हिन्दी सस्करण .
प्रथमावृत्ति ' श्री रमेशचद्र सोगानी, कलकत्ता द्वारा २१०० (तीनो खण्डयुक्त)
द्वितीयावृत्ति श्री रमेशचद्र सोगानी, कलकत्ता द्वारा १००० (दो खण्डयुक्त)
तृतीयावृत्ति श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट द्वारा १५००
(तीनों खण्डयुक्त) (२५१७वॉ श्री वीर निर्वाणोत्सव)
चतुर्थ आवृत्ति श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट द्वारा १५००
(तीनो खण्डयुक्त) (श्री वीर निर्वाण स २५१९)
' पॉचवी आवृत्ति श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट द्वारा ५००
(तीनो खण्डयुक्त) (श्री वीर निर्वाण स २५२६)

गुजराती सस्करण .
प्रथमावृत्ति
श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट द्वारा ३००० (दो खण्डयुक्त)
प्रथमावृत्ति
श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट द्वारा १०,००० (तीसरा खण्ड)

प्राप्ति स्थान :
श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट,
५८०, जूनी माणेकवाडी, भावनगर - ३६४००१ (सौराष्ट्र)
फोन ४२३२०७

लागत मूल्य ३० ००

लेसर टाईपसेटिंग
पूजा इम्प्रेशन्स
प्लोट न १०७५/ ए,
मातृछाया-४
आबावाडी, भावनगर-३६४००१
फोन ४२३४७०

मुद्रक
मा गायत्री प्रिन्ट हाउस
दिवानपरा रोड,
नारियेलवाली शेरी,
भावनगर-३६४००१
फोन ५१२३४६



○ પરમોપકારી પૂજ્ય ગુરુદેવ શ્રી કાનજી સ્વામી ○

समर्पण

पूज्य श्री सद्गुरुदेवके परम योगसे एवं उनकी अपूर्व सत् अमृतवाणीसे मुझ पामर पर अपार उपकार हुआ है । यह होते ही निज सुप्त चेतना तत्क्षण जाग्रत हो उठी और उन्हीके प्रतापसे इस भरतभूमिमे अद्भुत और अलौलिक धर्मप्रभावना हो रही है । इनके मुखारविन्दसे जिनधर्म व जिनवाणीका विशाल प्रवाह अखण्ड – अटूट – धारावाही बह रहा है, इस आध्यात्मिक स्रोतसे निकली ज्ञानगंगामे स्नान कर अनेक जीव शुचि हो रहे है । अहो ! अपूर्व आध्यात्मिक सहजानंदवृत्तिधारक, महान् अनुभवी, प्रखर धर्मउपदेशक, करुणासिंधु परम पूज्य परमोपकारी सद्गुरुदेव श्री कहानजी स्वामीके करयुगलमे अत्यन्त अनन्य भक्तिपूर्वक विनम्रभाव से यह "द्रव्यदृष्टि प्रकाश" सर्मपण करके अत्यधिक आनन्द अनुभवता हूँ ।

– रमेशचन्द्र सोगानी

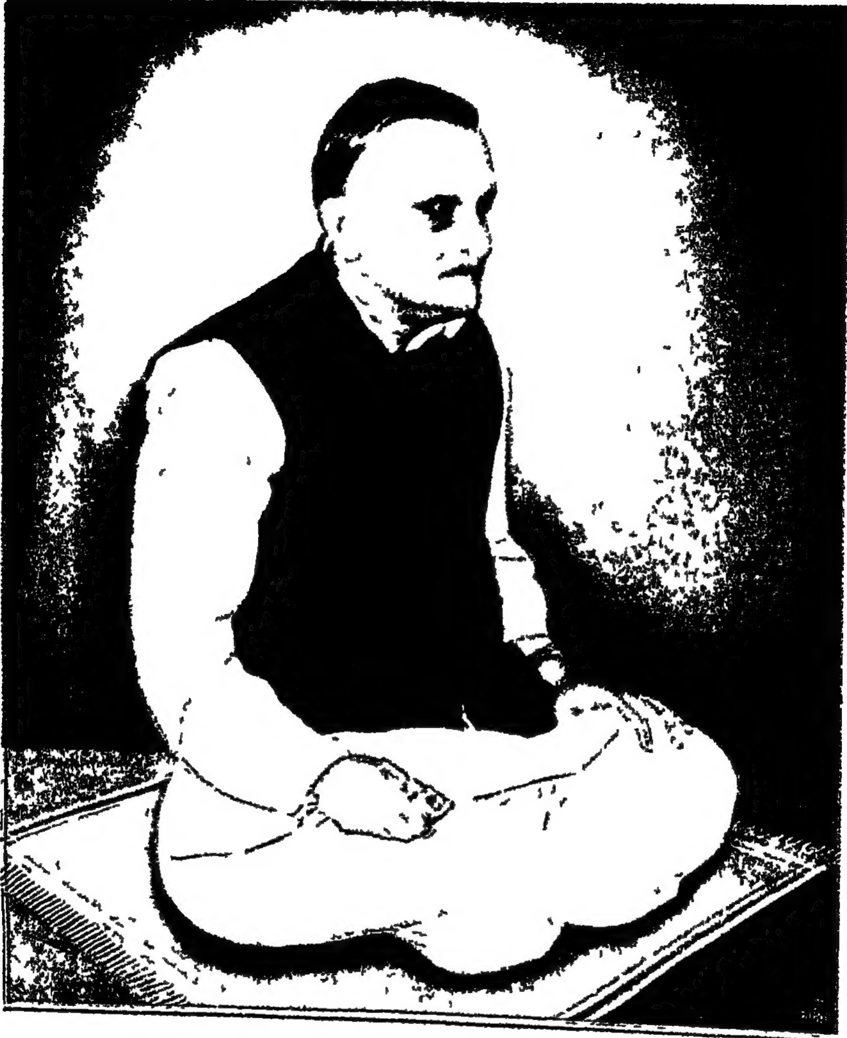
स्मरणांजलि

धर्मस्नेही स्वजन !

आपश्रीने तीनकालमे उत्कृष्ट और महान् धर्मकी भावनाको अपने जीवनमे सम्पूर्ण रूपसे पू. गुरुदेवश्रीकी महान् कृपासे एकाकार परिणमा दिया। आपके जीवनका यही अनहद् अदम्य धार्मिक उत्साह प्रतिक्षण स्मरणमें आता है। आपने यह उत्तम बोधि-बीज निज कारणपरमात्माके आश्रयसे स्पष्ट अनुभव किया और ऐसी मांगलिक भावना की कि यह बीज वट-वृक्षकी तरह अनेक स्थानोमे प्रसरे और अनेको जीव विशाल पैमाने पर इसका लाभ ले, तथा हम सभीके लिये आपकी वृत्ति हरचंद इस तरफ़ वलण कराती है कि अपनी दृष्टि मेरी ओरसे हटाकर निज-स्वयंके पूर्ण अभेद धामको ही लक्ष्य बनावे, वही श्रेष्ठ है। अतः धर्मकी प्रभावना बढ़े, यह भाव भी निस्सन्देह इसमें गर्भित है। हमारे लिये धार्मिक भावनारूपी बीज रोपनेका महान् श्रेय आपश्रीको ही है। हम लोगोके लिये आपश्रीने उत्कृष्ट धार्मिक-भावनाका यह सन्मार्ग प्रशस्त कर दिया है। इसी भावनाके योगसे हमे पूज्य गुरुदेवश्रीका सुयोग प्राप्त हो रहा है। अहो ! आपके हृदयमे तो बस हर घड़ी और हर पल सोनगढ़का व सत् महात्माका आशीर्वाद देता हुआ चित्र ही अंकित रहा करता था। इस सत् मार्गकी ओरका यह वलण समय समय पर आपकी भावनामे ओत-प्रोत रहता था। उत्तमोत्तम धर्मके संस्कार आपके पत्रद्वारा हर क्षण प्रेरणारूप हो रहे है। आपका यह महान् उपकार पूरे भरतक्षेत्रको उत्प्रेरित कर रहा है। ऐसे महान् संस्कारोके प्रति आपका यह परम उपकार हम सब कभी नही भूलेगे-नही भूलेगे। आपश्रीके अनमोल हस्तलिखित पत्र, विविध सुवाक्य तथा प्रश्नोत्तरकी इस पुस्तक द्वारा आपको यह स्मरणांजलि अर्पित करते हुये ऐसी सुखद भावना भाते है कि इसमें दर्शायी गई आपकी मोक्षेच्छुक भावना शीघ्र अति शीघ्र पूर्ण हो।

स्वकुटुम्बीजन –

		आशालता
	कुसुमलता	
अनूपकुंवर		कुमुदलता
[illegible]	नरेशचन्द्र	अनिलकुमार
	…ककुमार	



पुरुषार्थमूर्ति पूज्य श्री निहालचन्द्रजी सोगानी

प्रकाशकीय

प्रस्तुत "द्रव्यदृष्टि-प्रकाश" ग्रन्थ स्वानुभूति विभूषित पुरुषार्थमूर्ति पूज्य श्री निहालचन्द्रजी सोगानी द्वारा लिखे पत्रो व तात्त्विकचर्चाओमे निरूपित अध्यात्मके मूल/सूक्ष्म सिद्धान्तोका अनुपम संकलन है । यह ग्रन्थ जैनवाङ्मयके आध्यात्मिक विभागकी एक अनूठी थाती है ।

अनादिकालसे अज्ञानी जीवने अपने पारमार्थिक मूल स्वरूप, जो शाश्वत, त्रिकाल एकरूप, निष्कम्प व ध्रुवधाम है, को दृष्टिमे न लेकर, उसने प्रतिसमय उत्पाद-व्ययस्वरूप, नश्वर, कम्पित, क्षणिक वर्तमान पर्यायवत् ही अपना स्वरूप जान-मानकर, उसीकी दृष्टि कर रखी है । और ऐसी विपरीत दृष्टिमे वह अपना अस्तित्व क्षणिकवत् श्रद्धने रूप भावमे स्वयंके मूल स्वरूपका निरन्तर घात करता रहा है और वैसे भावके फलस्वरूप वह अनादिसे द्रव्य और भावमरणको संप्राप्त होता आया है । और वस्तुस्थिति भी यही है कि जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि होती है । असलमे जीवके पंचपरावर्तनरूप संसारकी अनन्त क्लेश संततिका एकमात्र मूल कारण उक्त विपरीत दृष्टि ही है, जो अनादिसे मिथ्यात्वभाव रूपमे निरन्तर वर्त रही है । ऐसे भावको आगममे पर्यायबुद्धि, पर्यायमूढता, पर्यायका कर्तृत्व, पर्यायमे एकत्व, पर्यायमे अस्तित्व आदि अनेक सञ्ज्ञाओसे दर्शाया है । वास्तविकता तो यह है कि विपरीत श्रद्धा / दृष्टिके गर्भमे अनन्त दोषो व दु:खोकी सर्जन क्षमता सदा विद्यमान रहती है और उससे प्रतिपल दोष व दुःख अंकुरित होते ही रहते है । अतएव मुमुक्षुका सर्व प्रथम कर्तव्य यही है कि वह, दृष्टि विपर्यास जैसे सर्व क्लेशोके जनककी भयंकरताका मूल्यांकन जैसा कि ज्ञानी धर्मात्माओने निर्दिष्ट किया है तदनुरूप भलीभाँति निश्चय करे और फिर अपनी सर्व शक्ति उक्त विपर्यासके मूलको निरस्त करनेमे लगावे; तभी उसका आत्मश्रेय सम्भव है ।

उक्त महत्त्वके हेतुसे पू. श्री सोगानीजीने कथित 'महाविपर्यास' के विरुद्ध, परम परमार्थरूप निज मूल तत्त्वकी सर्वोत्कृष्ट उपादेयता दर्शाते हुए अपनी अनूठी द्रव्यदृष्टिप्रधान शैलीमे जितने प्रचण्ड प्रहार किये है, वे जीवको अनादिरूढ पर्यायदृष्टिके चंगुलसे छुड़वाने और सर्व श्रेयकी मूल द्रव्यदृष्टि कराने हेतु सचोट, सबल और सार्थक व उपकारभूत निमित्त होनेसे, उन्हे ग्रन्थारूढ किया गया है । श्री सोगानीजीकी कथनपद्धतिमे ऐसी मौलिकता, सहजता, प्रखरता और स्पंदनयुक्तता सन्निहित है, जिसके सम्यक् स्पर्शसे पात्र जीवका सुषुप्त पडा हुआ आत्मा अपने श्रेयार्थ संवेगसे

एकदम उछल पडे । लेकिन इस तथ्यकी सुप्रतीति तो, पाठकोको ग्रन्थमे निर्दिष्ट भावोके वाच्यको समीचीनरूपसे अवगाहन करने पर ही होगी ।

उल्लेखनीय है कि अनन्त करुणामूर्ति पू. गुरुदेवश्री कहानजी स्वामीकी वर्तमान व भावी मुमुक्षु समाज पर असीम निष्कारण करुणा रही है और इस करुणावृष्टिरूप देशना, तथा स्वयंके ज्ञान-ध्यान-साधनाका मुख्य केन्द्रस्थल श्री स्वर्णपुरी (सोनगढ़) रहनेसे यह क्षेत्र 'तीर्थधाम' मे परिणत हुआ है । परन्तु यह तीर्थधाम श्री निहालचन्द्रजी सोगानीके लिए तो 'ज्ञानकल्याणक' स्थल सिद्ध हुआ है । यही उन्होने अपने प्रथम दिनके संक्षिप्त-से परिचयमे ही श्री गुरुके श्री मुखसे मुखरित प्रथम भवच्छेदक देशना झीलकर, उसी दिन अनादिरूढ मिथ्यात्वको विध्वंस कर, मोक्षपथकी प्रथम सीढ़ीरूप स्वानुभूति प्रकट की । यही पूज्य गुरुदेवश्रीकी अप्रतिम बाह्य जिनशासन प्रभावनाके प्रताप व प्रसादसे श्री सोगानीजीके अन्तरमे निश्चय जिनशासनका उदय हुआ । यह एक ऐसी अनूठी, अनूपम गौरवमयी घटना है जो स्वर्णपुरी तीर्थधामके स्वर्णिम इतिहासके पन्नोपर रत्नाक्षरोमे टंकोत्कीर्ण है; जिसकी प्रभा स्वयं ही निरन्तर जगमगा रही है जिसे अनदेखा करना सम्भव नही ।

यथार्थत· प्रस्तुत ग्रन्थके मूल तो पूज्य गुरुदेवश्री ही है, कारण कि उन्ही धर्मपिताश्रीकी भवान्तकारी देशनाके प्रसादसे ही श्री सोगानीजीका सद्धर्ममे नया जन्म हुआ है । अतः उनके पावन चरणारविन्दमे अत्यन्त भक्तिभावसे कोटि-कोटि वन्दन !

प्रस्तुत ग्रंथके प्रकाशन हेतु प्रकाश्य सामग्री सुलभ करानेके लिए हम श्री रमेशचन्द्र सोगानी, कलकत्ताके आभारी है । साथ ही जिन्होने इस ग्रन्थका मूल्य घटानेके लिए जो राशि प्रदान की है, (जिनका विवरण अन्यत्र प्रकाशित है) के प्रति; तथा ग्रंथके सुन्दर मुद्रणकार्यके लिए श्री भीखाभाई सो. पटेल, भगवती मुद्रणालय, अहमदाबाद; और टाइपसेटिंगके लिये शारदा मुद्रणालयके प्रति आभारी है ।

अंतमे, पाठकगण मात्र अपने आत्मश्रेयके लक्ष्यसे प्रस्तुत ग्रन्थका वारंवार अध्ययन करे, ऐसे विनम्र अनुरोधके साथ—

भावनगर, ट्रस्टीगण,
दि. २८-२-१९९३ श्री वीतराग सत् साहित्य-प्रसारक ट्रस्ट



○ પ્રકાશ મૂર્તિ પૂજ્ય બહેન શ્રી ચંપાબેન ○

आमुख

मेरे संपूज्य पिताश्री निहालचन्द्रजी सोगानी, जिनसे अध्यात्मयुगस्रष्टा परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कहानजी स्वामीके सभी अनुयायी सुपरिचित हैं, के स्वर्गारोहण पश्चात् जब मेरी मातृश्री श्रीमती अनूपकुंवरको, सत्पुरुषोंके प्रति अत्यनुरागी स्व. श्रीमती गुलाबबहेनने सोनगढमें, यह जानकारी दी कि उनके पति श्री सोगानीजीके द्वारा समय समय पर मुमुक्षुओंको लिखे पत्रो व तत्त्वचर्चाओमें दिए गए समाधान अध्यात्मजगत्में विशिष्ट कोटिके हैं, अतएव उनका प्रकाशन जहाँ एक ओर उनकी अपने स्वर्गस्थ पतिके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी, वहीं दूसरी ओर वह, अनेक भव्य जीवोंके लिए एक उपकारभूत निमित्त होगा। यह जानकर मेरी मातृश्रीको अतीव प्रसन्नता हुई। परन्तु ऐसे किसी प्रकाशनके पूर्व पूज्य गुरुदेवश्रीसे अनुमति लेना आवश्यक समझकर उन्होंने पूज्य गुरुदेवश्रीसे तद्विषयक याचना की, जिसे उन्होंने सप्रमोद मान्य कर लिया। तत्पश्चात् मेरी मातृश्रीने पूज्य गुरुदेवश्रीकी सम्मतिसे प्रस्तावित प्रकाश्य सामग्रीके संकलन और सम्पादनका महत् भार माननीय श्री लालचन्द अ. मोदीको सौंपा और उन्हींके विशेष आग्रहभरे अनुरोधको स्वीकार कर माननीय श्री शशीकांत म. शेठ भी इस कार्यमें जुड़े। इन दोनो महानुभावोंने श्रीगुरु आज्ञाको शिरोधार्य कर, अथक परिश्रम लेकर, अत्यन्त सावधानी और सूझबूझपूर्वक उक्त प्रकाश्य सामग्रीको संकलित व सम्पादित किया।

तत्कालीन जैन समाजमें द्रव्यदृष्टि प्रधानताकी श्री सोगानीजी जैसी प्रखर शैली प्रायः अप्रचलित थी। आगम पाठियोंको भी उनकी शैली व कई एक शब्द आपत्तियुक्त लगनेकी सम्भावना थी। अतएव ग्रन्थके तृतीय खण्डमें रखे गए तत्त्वचर्चा विभागके प्रश्नोत्तरोंके संदर्भमें न तो श्री सोगानीजीके कथनकी मौलिक प्रखरतामें किसी प्रकारकी न्यूनता आये और न ही पाठकोंमें कोई समझ-विपर्यास उत्पन्न हो जाये जिससे वे अपना अहित साध बैठें, इस आशयसे जहाँ जो योग्य हो वहाँ तद्विषयक स्पष्टता कोष्टकोंमें देना योग्य लगनेसे माननीय श्री शशीभाईजीने वैसी स्पष्टता की। मेरे पिताश्रीसे माननीय श्री शशीभाईजीका अतीव अन्तरंग व घनिष्ट परिचय और साधर्मी वात्सल्यता थी जिसके कारण वे उनके हार्द/अभिप्राय/निरूपणपद्धति/कथन शैलीसे सुपरिचित रहे हैं। चूँकि मेरे पिताश्रीकी सहज व नपे-तुले शब्दोंमें अपनी बात कहनेकी प्रकृति थी जिससे समझ फ़र्क़ होने अथवा भ्रम फैलनेकी सम्भावनासे बचनेके लिए उन्होंने कोष्टकोंके माध्यमसे स्पष्टता की। इससे सम्माननीय श्री शशीभाईजीकी

विषयकी सर्वांग व गहन पकड़, निःशंकता, वाच्यग्राहकता और अन्तर् सूक्ष्मताके साथ ही उनकी दूरदर्शिता भी स्वतः उजागर होती है।

माननीय सम्पादकोने ग्रन्थको तीन खण्डोमे विभाजित करके प्रथम खण्डमे पत्र विभाग, दूसरे खण्डमे ग्रन्थके मुख्य निर्दिष्ट विषय-समर्थक पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचन-अंश तथा तीसरे खण्डमे तत्त्वचर्चा रखी; एवम् ग्रन्थकी विषय सामग्रीके अनुरूप ही ग्रन्थका शीर्षक "द्रव्यदृष्टि-प्रकाश" रखा। मैंने अपनी मातृश्रीकी मंगल प्रेरणासे यह ग्रन्थ सन् १९६७मे प्रकाशित किया और सार्वजनिक करण हेतु इसे अपने पिताश्रीके अनन्त अनन्त उपकारी पूज्य गुरुदेवश्रीके पावन करकमलोमे समर्पित करके ग्रन्थ-विमोचनकी मंगलविधि सम्पन्न की। प्रारम्भमे ग्रन्थके उक्त तीनो खण्ड संयुक्त थे लेकिन बादमे तीसरे खण्डकी जिल्द अलगसे की गई जिसे काफ़ी समय तक पूज्य गुरुदेवश्री अपने हाथोसे सुयोग्य व अभ्यासी मुमुक्षुओको देते थे। जिन्हे यह ग्रन्थ मिलता वह अपनेको धन्य समझता था। पुज्य गुरुदेवश्रीका उक्त प्रकारका वर्तन ही ग्रन्थकी विशिष्टताको प्रमाणित करता है।

तत्पश्चात् ग्रन्थके प्रथम और द्वितीय खण्डकी प्रथम आवृत्तिमे जो कुछ त्रुटियाँ रह गई थी उन्हे श्री मणिकान्त पदमशी नागड़ा, घाटकोपर (बम्बई)वालोंने यथासम्भव सुधार कर सन् १९७०मे द्वितीय आवृत्तिके रूपमे प्रकाशित किया गया।

मेरे पिताश्री मारवाड़ी-हिन्दी भाषी थे जब कि धार्मिकक्षेत्रमे उनके परिचित, जिनसे कि उनका पत्र व्यवहार व तत्त्वचर्चायें हुई, प्रायः गुजराती भाषी रहे। ये लोग वाच्यको सही तौरसे समझ सके इसी आशयसे वे कई गुजराती शब्द, जिससे हिन्दीभाषी प्रायः परिचित नही है, प्रयोग करते थे और कभी कभी तो उनके द्वारा गुजराती-सी लगनेवाली वाक्य रचना भी सहज हो जाया करती थी। इस प्रकारसे उनकी अभिव्यक्तिमे मारवाड़ी, हिन्दी और गुजराती भाषाओका सहज मिश्रण हो गया था। और जिन्होने तत्त्वचर्चाओमे हुए समाधानोको सुनकर लिखा, उन्होने भी अपनी मातृभाषा गुजरातीमे ही लिखा था। संयोगवश ग्रन्थके सम्पादक भी गुजराती होने तथा तत्त्वचर्चाकी प्रकाश्य सामग्रीकी भाषाकीय स्थिति उक्त प्रकारकी होनेसे उसके हिन्दी प्रकाशनमे लौकिक अपेक्षासे माने जानेवाली भाषा/वाक्य/मात्रा आदिकी त्रुटियाँ होनी स्वाभाविक थी। परन्तु वाच्य अवगाहन/भासनमे भाषा अथवा त्रुटियाँ आदि कभी बाधक नही बनती है। तथापि जिनका भाषा, शब्दो व मात्रा आदिकी अशुद्धताकी ओर ध्यान गया उन्होने उस ओर मेरा ध्यान बार-बार आकर्षित किया है।

सुयोगसे जब तीनो खण्डोका समन्वित ग्रन्थका प्रकाशन होनेका है तो उल्लिखित त्रुटियोको दूर करके तथा गुजराती शब्दोका प्रचलित हिन्दीमे रूपांतरित करके

परिशुद्धरूपसे ग्रन्थ प्रकाशित हो, यही योग्य है। अतएव ग्रन्थको यथाशक्ति परिशुद्ध किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थकी एक अन्य विशेषता है कि यद्यपि मूल ग्रन्थके तृतीय खण्डमे कई जगह स्पष्टता हेतु कोष्ठकोके माध्यमसे विवक्षा स्पष्ट की गई है तथापि कई समाधानोके लिए विशेष स्पष्टताकी आवश्यकता समझते हुए इस ग्रन्थमे कोष्ठकोमे तद्विषयक विशेष स्पष्टीकरण दिया है, जिसे अलग टाइप (अक्षरो)मे दर्शाया गया है, आशा है ऐसा करना पाठकोके लिए हितकारी सिद्ध होगा। ऐसा करनेके पीछे कारण यो बना : यद्यपि मैने कई बार इस ग्रन्थका आद्योपांत स्वाध्याय किया है और सदा अपूर्वता ही लगती रही। ऐसी बात एक बार प्रमोदसे किसी चर्चाके दौरान मैने माननीय श्री शशीभाईजीको कही तो उन्होने बतलाया कि "इस ग्रन्थके संकलन और सम्पादनमे प्रमुखरूपसे यही एक मानदण्ड सामने रखा गया था कि यह ग्रन्थ अध्यात्मविद्याका उच्च कोटिका सिद्ध हो। इसी दृष्टिसे ही ग्रन्थमे प्रकाशित सभी प्रश्नोत्तरोका चयन किया गया था। यदि कही किसी प्रश्नका उत्तर ऊपर ऊपरसे साधारण-सा लगे तो भी उसकी गवेषणासे वह उत्तर निश्चित ही असाधारण प्रतीत होगा। अतः आप इसी दृष्टिकोणको मुख्य रख कर ग्रन्थका स्वाध्याय करे तो आपको अनेक विशेषताये लक्ष्यगत होगी।" तबसे साधारण-से लगते उत्तरोमे गम्भीरता भासित होने लगी और जब जब वैसे उत्तरोमे गर्भित अर्थगांभीर्यताका रहस्योद्‌घाटन माननीय श्री शशीभाईजी करते तो ऐसा बारबार लगता कि यदि वैसी स्पष्टता सर्व साधारणको सुलभ हो तो उनके लिए विषयकी सूक्ष्मता भासित होना व मार्गकी सूझ होना अधिक सरल होता। मेरे बारम्बार अनुरोध करने पर ही उन्होने इस ग्रन्थके कई स्थलोपर स्पष्टता की है जिसके लिए मै उनका जितना भी आभार मानूँ कम होगा।

उक्त विशिष्टताओके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थमे मेरे पिताश्रीके अन्तर्बाह्य जीवनके विशिष्ट पहलुओको "श्री निहालचन्द्रजी सोगानी [– व्यक्तित्व एव कृतित्व]" शीर्षकसे प्रकाशित किया गया है। यद्यपि मूल ग्रन्थमे मेरी स्व. छोटी बहिन श्रीमती कुमुदलताने अपने पिताश्रीका संक्षिप्त परन्तु अति भाववाही जीवन परिचय दिया था। तथापि अनेक मुमुक्षुओको उनके जीवन-प्रसंगोके बारेमे विशेष जिज्ञासाये रही है। इसके अलावा ज़ब जब मेरी मुलाक़ात माननीय श्री शशीभाईजीसे होती तो वे मुझे बारम्वार प्रेरित करते कि मै अपने पिताश्रीके जीवनके अप्रकाशित प्रसंगो तथा उनके जीवनवृत्तकी विशेष छानबीन करूँ। मुख्यत उन्हीकी प्रेरणावश मै जब तब तद्विषयक महत्त्वपूर्ण बातोका पता करके उन्हे बतलाता रहा हूँ। इस सम्बन्धमे जिन लोगोने मुझे सहयोग

दिया है मै उन सभीका कृतज्ञ हूँ। इस प्रकार उल्लिखित शीर्षकवाला आलेख समादरणीय श्री शशीभाईजीने, मेरी छोटी बहिन द्वारा पूर्व प्रकाशित जीवन परिचय, मेरे द्वारा समय समय पर बतलाये तथ्यो, अन्य परिचितोकी भेटवार्त्ता, तथा ग्रन्थके पत्रोके आधारसे संकलित व संपादित कर बडे ही रोचक तथा हृदयग्राही भावोमे प्रस्तुत किया है। निस्संदेह यह आलेख सिर्फ़ मेरे पिताश्रीका जीवन-वृत्तांत नही है, अपितु यह त्रिकालवर्ती ज्ञानी धर्मात्माओकी अन्तर्बाह्य दशाका जीवंत चित्रण है। तत्त्वतः साधकके बाह्य उदयप्रसंगोकी असमानता, चित्रविचित्रता तो मात्र पूर्व प्रारब्धोदयको अनुसरण करती है परन्तु उसी काल उससे भिन्न वर्तती मूल, अनुदयरूप अन्तर्दशा सम्यक् पुरुषार्थको अनुसरती है। और ऐसी सत्पुरुषार्थधारा सर्व ज्ञानी धर्मात्माओको निरन्तर वर्तती है जिससे त्रिकालवर्ती साधकोमे साम्यपना रहता है। उक्त आलेख मुमुक्षुओके लिए अत्यन्त प्रेरणास्पद है, अपनी दशाके प्रमाणीकरणका पैमाना है और ज्ञानी धर्मात्माओके अन्तर्बाह्य जीवनकी समीचीन पहचानसे सहज स्फुरित होनेवाली भक्ति बहुमानका समर्थ निमित्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थकी एक और विशेषता है कि इसमे श्री सोगानीजीकी विभिन्न मुद्राके कई चित्र दिये गये है। इसी प्रकार ग्रन्थके मुखपृष्ठको भी आकर्षक बनाकर नए परिवेशमे प्रस्तुत किया जा रहा है।

अन्तमे, मै श्री वीतराग सत् साहित्य-प्रसारक ट्रस्टका आभारी हूँ कि जिन्होने इस ग्रन्थको प्रकाशित किया है।.... अस्तु।

—रमेशचन्द्र सोगानी



अनुक्रमणिका

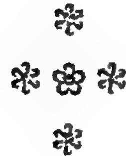
द्रव्यदृष्टि-प्रकाश

दाताओकी नामावलि

१००००	श्री रमेशचद्र सोगानी परिवार	कलकत्ता
५१११	श्री विमलचदजी पाटनी	ग्वालियर
५०००	श्री घीसालालजी कोठारी	हैद्राबाद
५०००	डॉ जामन महेता परिवार	उदयपुर
५०००	श्रीमती समरतवेन चुनीलाल	मुबई
४५००	श्री प्राणलाल पुरुषोत्तमदास कामदार परिवार	मुबई
४०००	श्री हीरालाल काला परिवार	भावनगर
३००१	श्री सपाणी परीवार	हैद्रावाद
२५००	श्री अनतराय अमुलख शेठ	मुबई
२५०१	डॉ जामन महेता	उदयपुर
२५००	श्रीमती प्रविणाबेन शशिभाई खारा	विशाखापट्टनम
२०००	श्री विरेन्द्रभाई शातीलाल शाह	मद्रास
२५०१	श्री शातिभाई तथा कातिभाई जोडियावाळा ह ब्र बेन सुशीलाबेन तथा ब्र सुलोचनाबेन	सोनगढ
१५००	श्री पी सी घोसाल	कलकत्ता
१५००	आशाकुमारी माणकचद काला	भावनगर
११०१	श्री पार्श्वनाथ दि जैन मदिर	ग्वालीयर
११११	श्री सपाणी परिवार	मद्रास
११११	श्री दि जैन कुदकुद कहानस्मृति सभागृह ट्रस्ट	आगरा
६११	श्री किरीटभाई	मुबई
६००	श्री डी वी दामाणी	सायन, मुबई
५०१	श्री घीसालाल कोठारी	हैद्राबाद
५०१	श्रीमती बदामीबेन कोठारी	हैद्राबाद
५००	श्री मणीलाल सुखलाल परिवार	भावनगर
५००	श्रीमती रजनबेन	मुवई
५००	श्री प्रविणभाई	जामनगर
३०३	श्री देवचदभाई	हैद्राबाद
२५०	श्रीमती रूपाबेन	मुबई
२५१	श्री निरवभाई खादीवाळा	भावनगर
२०१	श्री मोनाबेन	भावनगर
२००	श्री पी बी दामाणी	मुबई
२००	श्री सुशीलाबेन महेता	दादर, मुबई
१०१	श्री विनयकात नगीनदास कपासी	भावनगर
१०१	श्री चुनीलालभाई	भावनगर
१०१	श्री चद्रकातभाई	भावनगर
१०१	श्री वसतभाई हरगोविददास अजमेरा	भावनगर
५१	आशाबेन महेता	दिल्ली

સુખ ધામ અનંત સુસંત ચહી,
દિનરાત્ર રહે, તદધ્યાન મહીં;
પરશાંતિ અનંત સુધામય જે,
પ્રણમું પદ તે વર તે જય તે.

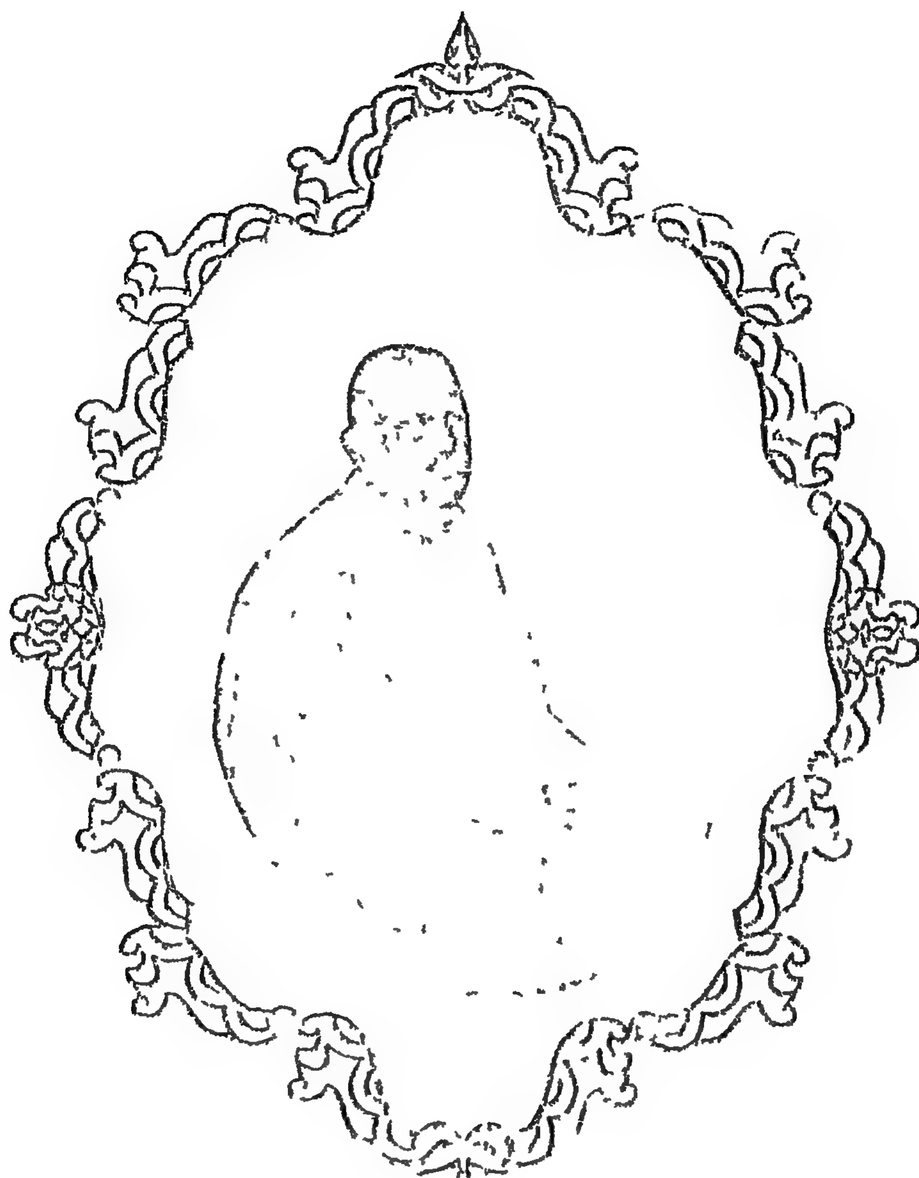
— શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી



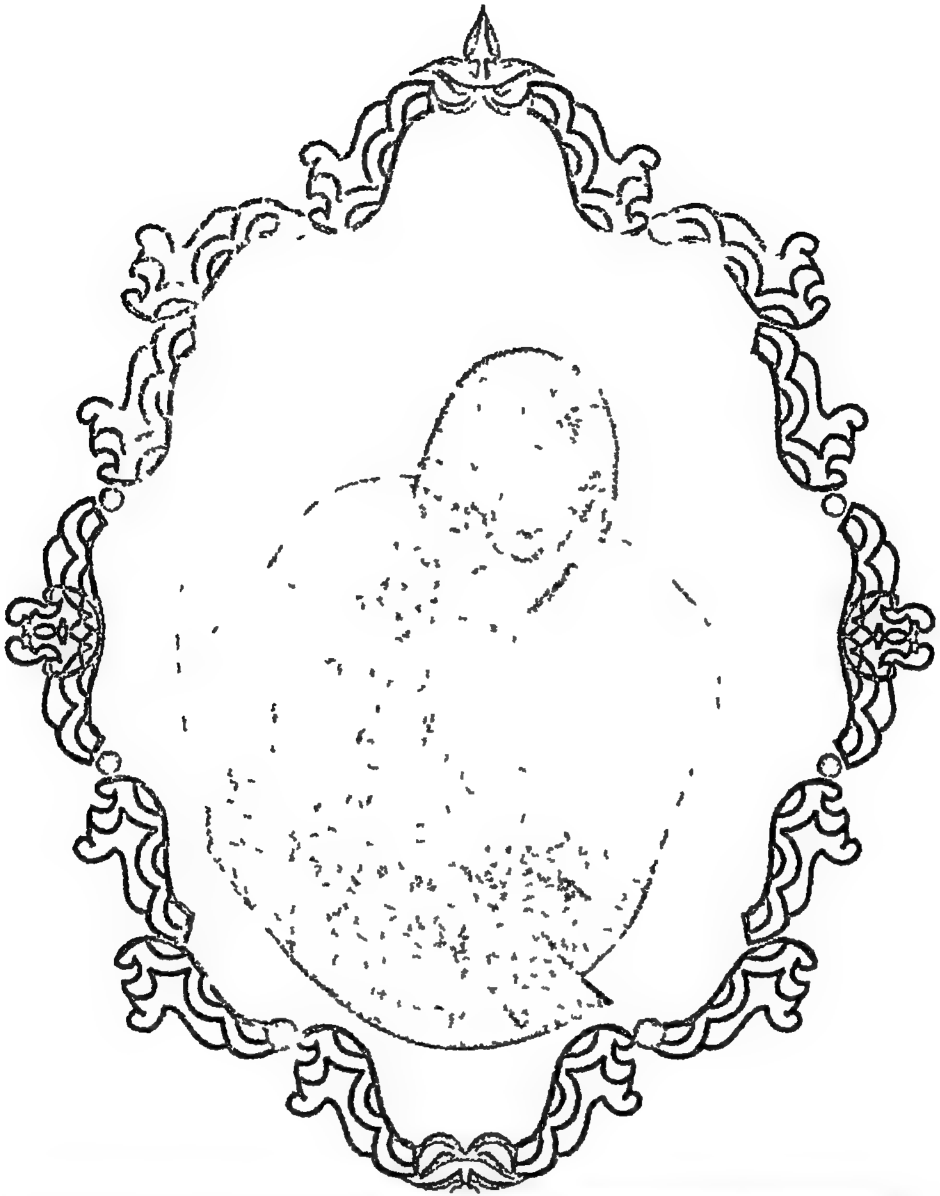
હે માતા ! હાથ ગ્રહો

કરી બાળવયે બહુ જોર, આતમધ્યાન ધર્યું;
સાંધી આરાધનદોર, સમ્યક્ તત્ત્વ લહ્યું.
મીઠી મીઠી વિદેહની વાત તારે ઉર ભરી;
અમ આત્મ ઉજાળનહાર, ધર્મપ્રકાશકરી.

સીમંધર-ગણધર-સંતનાં, તમે સત્સંગી;
અમ પામર તારણ કાજ પધાર્યા કરુણાંગી.
તુજ જ્ઞાન-ધ્યાનનો રંગ અમ આદર્શ રહો;
હો શિવપદ તક તુજ સંગ, માતા ! હાથ ગ્રહો.



[illegible]



हे गुरुदेव! लोकोत्तर लाभ हेतु आपके चरणों पर
श्रद्धांजलि है, आशीर्वाद देता हूँ आपका [illegible]
देता है - आपके आशीर्वाद से पूर्ण आनंद [illegible]
प्राप्त हो जाऊँ और आनंद [illegible] के, [illegible]
वर्तमान [illegible] में, [illegible] होते रहें ऐसी [illegible]
है -



अरे भिकारम ! यदि तुझे तेरे
आत्म प्रेम है तो अन्य सब को गौणकर
के गुरुदेव के संग में जो चलना अथवा
दि यादृशा उत्तम वीतरागी भगवान् हमी
ही तेरा अंतःकरण डालेगा॥—

[illegible]

(—श्री निहालचन्द्र सोगानी)

ॐ

श्री निहालचन्द्रजी सोगानी

[व्यक्तित्व एव कृतित्व]

राजस्थानकी पुनीत-पुण्य वसुन्धरा अनेक धर्मात्माओकी जन्म व कर्म भूमि है। यहॉका ऐतिहासिक नगर अजमेर अपनी प्राकृतिक छटाके साथ साथ विविध कला-संस्कृतियोंके केन्द्रके रूपमें सुप्रसिद्ध है। यहॉ प्राचीन कालसे ही मूल दिगम्बर जैन धर्मावलम्बी भी प्रचुर संख्यामे निवास करते रहे है। यहॉ उन लोगोंने अपनी धर्माराधनाके निमित्त अपने आराध्य देवोके कई गगनचुम्बी शिखरबद्ध जिन मन्दिरोके निर्माण कराये है, जो वस्तुशिल्प व कलात्मक सौन्दर्यकी दृष्टिसे भारत विख्यात है। हमारे प्रस्तुत चरितनायक, निकट मोक्षगामी-धर्मात्मा श्री निहालचन्द्रजी सोगानी [जिनके लिए इस आलेखमे 'श्री सोगानीजी' शब्द प्रयुक्त किया है] की भी यही जन्मभूमि है।

यद्यपि सोगानी-परिवारकी अनेक पीढ़ियोंकी जन्मभूमि अजमेर ही रही है तथापि यह कहना कठिन है कि अतीतमें उनके पूर्वज कब और कहॉसे आकर यहॉ बसे।

श्री सोगानीजीके पिता श्री नेमीचन्द्रजी धर्मनिष्ठ, सरलमना व संतोषी वृत्तिके व्यक्ति थे। उनके अन्य तीन सहोदर थे। उन्होने आजीविकाके साधन हेतु गोटाकिनारीका हस्त-शिल्प अपनाया। परिवार मध्य वित्तीय स्थितिवाला था। श्री नेमीचन्द्रजीकी प्रथम पत्नी श्रीमती सूरजबाईका बाल्यावस्थामे ही निधन हो जानेसे उनका दूसरा विवाह गगराना ग्रामके कासलीवाल परिवारकी कन्या किशनीबाईके साथ किया गया। उसने चार पुत्र व एक पुत्रीको जन्म दिया। जिनमें श्री निहालचन्द्रजी दूसरे नम्बरके पुत्र थे।

✿ श्री सोगानीजीकी जीवनयात्रा :

सन् १९१२मे, वैसाख सुद-११, विक्रम संवत १९६९ के दिन विधिकी किसी धन्य पलमे बालक 'निहाल'को जन्म देकर उनकी माताश्रीकी कोख भी निहाल हो गई। बालकका मनोहर रूप व सौम्य निश्छल मुद्रा सभीको सहज ही मोहित कर डालती। बालककी बाल सुलभ 'चन्द्र' कलाएँ व चेष्टाएँ भी सभीका मन लुभाती रहती। भावी महामनाके पाद-स्पर्शित रजकण भी मानों गौरवान्वित हो, धन्य हो गये।

श्री सोगानीजी जन्मजात असाधारण प्रतिभाके धनी, विचक्षण व मेधावी रहे; परिणामतः उन्होने अति अल्प प्रयाससे ही यथेष्ट लौकिक शिक्षा प्राप्त कर ली। वे सहज चेतना, जिज्ञासुवृत्ति, निर्भीक, कार्यनिष्ठ व परिश्रमशील होनेके साथ साथ धुनके धनी भी थे। किसी कार्यको प्रारम्भ कर देनेके बाद उसे पूरा किये बिना उन्हे चैन कहाँ ?

इसी बीच पारिवारिक-दायित्वबोधने उन्हे परिवारके उपजीवनके निर्वाह हेतु सहयोगी बना दिया, अतः उन्होने अजमेरमे ही एक दुकान पर नौकरी करना स्वीकार कर लिया। उनकी प्रामाणिकता, प्रबन्ध-पटुता, व्यवहार-कुशलता, कर्तव्यनिष्ठतादि सद्गुणोसे प्रभावित होकर दुकान मालिकने परिस्थितिवश कालान्तरमें अपनी दुकानका स्वामित्व ही श्री सोगानीजीको सौप दिया।

तथापि उनकी बालावस्थामे ही विलक्षण प्रकृति थी। कार्यनिष्पन्न होते ही वे गम्भीर हो, एकान्तमें बैठ किन्ही विचारोमे खो जाया करते थे। उनकी भीतर तक झाँक लेनेवाली तेज आँखे, समाधिस्थ-से रहते अधर-सम्पुट उनकी जिज्ञासुवृत्तिको रेखांकित करते रहते। उनकी ऐसी वृत्ति घरके बड़ोको विस्मित करती या सालती थी।

✿ गृहस्थाश्रम :

श्री सोगानीका सन् १९३४मे बाईस वर्षकी वयमे अजमेरके ही

बाकलीवाल परिवारकी कन्या अनोपकुंवरके साथ विवाह हुआ। कालक्रममे उनके दाम्पत्यजीवनसे पॉच पुत्रो व तीन पुत्रियोने जन्म लिया। जिनमेसे प्रथम पुत्रका ४-५ वर्षकी अल्पायुमे तथा दो पुत्रियोंका [– श्रीमती आशालता व कुमुदलताका उनके विवाहोपरांत] निधन हो गया। वर्तमानमे सबसे बड़े पुत्र श्री रमेशचन्द्र व उनके तीन अनुज क्रमशः श्री नरेशचन्द्र, श्री अशोककुमार व श्री अनिलकुमार तथा पुत्री श्रीमती कुसमलता मौजूद है। और वे सभी अपने पूज्य पिताश्रीके निर्दिष्ट पथ पर आनेका प्रयास कर रहे है।

✿ मन्थन-काल :

यद्यपि श्री सोगानीजीके लिए बढ़ती हुई गृहस्थीकी आवश्यकताओकी सम्पूर्ति उस दुकानकी आमदनीसे करना अति कठिन था; तथापि उन्हे तद्विषयक कोई विशेष मानसिक उलझन नही रहती थी।

परन्तु उनके कोई पूर्व संस्कारवश बालावस्थासे ही स्फुरित वैचारिक द्वंद्व अविच्छिन्नधारासे जो प्रवहमान था, वह दिन दिन वृद्धिगत होता गया। वह उन्हे न तो दुकान पर और न ही घर पर चैन लेने देता था। जीव-जगत, जीवन-मृत्यु, सत्यासत्यकी जटिल समस्याओसे जूझता हुआ उनका घायल मन बार बार प्रश्नातुर हो उठता। क्या है सत्य ? कौन हूॅ मै ? कहॉ है अखण्ड शान्ति ? कहॉ है इन ज्वलंत प्रश्नोका समाधान ?

इस तरह एक ओर पारिवारिक दायित्वका बढ़ता हुआ दबाव और दूसरी ओर उक्त प्रकारकी वैचारिक मनःस्थिति। दोहरी मानसिकताका यह द्वंद्व प्रबलसे प्रबलतर होता गया।

नीरव निशीथके सायेमे जब निद्रालस संसार स्वप्नोमे खोया रहता, वे उन्नीद्र होकर घरकी छत पर चक्कर लगाते रहते। धूॅधले उदास आकाशमे वे किसी प्रकाशमान ध्रुव तारेकी खोज करते रहते। मन होता, पॉवोंमे पंख बॉधकर उड़ता हुआ चला जाऊॅ इस घुटन और कुंठाओकी सीमाके उस पार, जहॉ अनवरत शान्तिका अखण्ड साम्राज्य स्थापित है। अपनी ही

सृष्टिके ताने-बानेसे गुथे जंजालसे मुक्त होनेके लिए उनके प्राण छटपटाते रहते। कोई दूरागत पुकार उनके कानोंमें गूँजती रहती। अनागतका कोई आमंत्रण उन्हें अपनी ओर खींचता रहता। निरन्तर बढ़ती हुई बेचैनी और विह्वलताको देखकर उनकी धर्मपत्नी भी करुणासे विगलित होकर तड़प उठती। परन्तु तादृश स्थिति बिना, ऐसी गोपित वेदनाका कारण जान पाना सम्भव कहाँ ?

भीषण अतृप्ति और प्यास, कभी न भरनेवाला शून्य, कभी न बुझनेवाली आगके घेरेमें घिरते चले गये, आत्मवेदनाके निगूढ पारावारमे वे डूबते गये। उन्हें प्रत्येक सांसारिक कार्य विष-तुल्य लगने लगे।

सत्यसे साक्षात्कारकी अभीप्सामें श्री सोगानीजीके जीवनका रूपान्तर होता रहा। भरे-पूरे संसारमें वे एकाकी और ऐकान्तिक होते चले गये। शान्तिकी प्राप्तिके लिए वे अनेक उपक्रम करते रहे। यहाँ तक कि किरायेके घरमें रहने पर भी छतके ऊपर, उन्होंने अपनी आर्थिक स्थिति तदनुकूल न होनेपर भी, अपने खर्चसे एक कोठरी भी बना ली; जहाँ उनका एकान्तवास हो सका। यही कोठरी उनकी शोध और साधनाका केन्द्र बन गई। शरीरसे लौकिकधर्मका पालन करते हुए भी उनकी अस्तित्वगत उपस्थिति भावनाके रहस्यलोकमें रहने लगी।

❀ सत्पात्रता :

साधु-सन्तोंका समागम; जिनदेव दर्शन; जैन ग्रन्थोंका आलोडन करना श्री सोगानीजीकी दिनचर्याका अनिवार्य अंग बनता गया। वे जब तब अन्य धर्मग्रन्थोंका भी तुलनात्मक अध्ययन किया करते थे। उनकी स्वाध्यायरुचि इतनी बढ़ चली थी कि वे दुकान पर भी तनिक-सा अवकाश मिलते ही या ग्राहकोंको नौकरके हवाले कर, शास्त्र-स्वाध्यायमे खो जाते थे। चिंतन-मनन-मन्थनके धुंध भरे गलियारोंमे भटक-भटक कर वे रोशनीकी तलाश करते रहे। अपनी अभीष्ट-सिद्धि हेतु उन्होने अपने ही हाथोसे बड़े जतनसे तैयार की हुई सामग्रीसे, लम्बे समय तक, दत्तचित्तसे चार-चार

पॉच-पॉच घण्टो खड़े रहकर दैनिक पूजाएँ की; खड़गासन् ध्यान क्रियाका अभ्यास किया; एकान्तमें हठ योगियोंके हठवादको साधा; यहाँ तक कि एक बार तो गृहस्थ-बन्धनसे दूर होनेके लिए घर छोड़कर डेढ़-दो माह तक शहरकी ही धर्मशालामें एक विद्वान पण्डितको रखकर, रात-रात भर जागकर अनेक जैनग्रन्थोंका गहन परायण किया; घण्टों ही चितन-मनन-ध्यान आदि क्रियाओंमे रत रहते; तथापि जिस परम सत्यको पानेके लिए उनका रोम-रोम व्याकुल व बेचैन था, उसका साक्षात्कार उन्हें नहीं हुआ तो नही हुआ। अनमोल मनुष्यभवका एक अंश तो इस भटकनमें ही निकल गया। आत्मविरहसे उनका आर्त मन बार बार पुकारता कि यदि सत्यसे साक्षात्कार नही हुआ तो फिर मेरे इस नश्वर शरीरका इस असार संसारसे उठ जाना ही श्रेयस्कर है।

✿ दिशा-बोध :

परन्तु 'जहाँ चाह है वहाँ राह है' तो फिर आत्मार्थी ही इससे वंचित क्यों ? पुरुषार्थसे जब सभीको इच्छित वस्तुकी प्राप्ति हो जाती है तो फिर 'सत्य ही चाहिए अन्य कुछ नही' ऐसे दृढ निश्चयीसे सत्य आख़िर कितने दिन दूर रहता ?? वैसा ज्ञानीधर्मात्माओंने भी क़ौल-क़रार किया ही है कि : "चैतन्यको चैतन्यमेसे परिणमित भावना अर्थात् रागद्वेषमेंसे नही उदित हुई भावना – ऐसी यथार्थ भावना हो तो वह फलती ही है।"

दैवयोगसे जैसे श्री महावीरस्वामीके जीवको उसके सिंहके भवमें सत् -उद्बोधन हेतु दो चारणऋद्धिवन्त मुनिराज आकाशसे पृथ्वी पर उतरे थे, वैसे ही सन् १९४६मे किसी महान् मंगल बेलामे श्री सोगानीजीको किसी साधर्मीने, सोनगढ़मे बिराजित दिगम्बर जैनधर्मके आध्यात्मिक सन्त श्री कहानजी स्वामीके प्रवचनोंको प्रकाशित करनेवाला मासिक "आत्मधर्म" पढ़नेके लिए दिया। प्रवचनप्रसादी स्वरूप सारगर्भित वाक्य 'षट् आवश्यक नही, लेकिन एक ही आवश्यक है" ने उनके अन्तरको झकझोर दिया, उन्हे गहरी चोट लगी। इसी वाक्यामृतके भावभासनसे मानो अनन्त कालसे

अनन्त कर्तृत्वके बोझ तले दबी, छटपटाती उनकी आत्मा सहज उबर गई और उन्हें आत्मा भार मुक्त-सा हलका भासित होने लगा। अन्तरमे रोम-रोम झनझना उठा और स्वरलहरी निकली, अरे ! मिल गया ! जिस सत्यकी खोज थी, उसका विधि-प्रकाशक मिल गया ! तत्क्षण ही उन्हे पूज्य गुरुदेवश्री और उनके मंगलकारी वचनोंके प्रति श्रद्धा व अन्तर प्रीति स्फुरित हुई और अहोभाव छलक उठा, मन भक्तिविभोर हो उठा। और उन्होने 'आत्मधर्म' में अंकित श्रीगुरुके भव्य चित्रको श्रद्धा-सुमनके रूपमे निम्न अर्घ अर्पित किया :

"उदकचन्दनतन्दुलपुष्पकैश्चरुसुदीपसुधूपफलार्घकै;
धवलमंगलगानरवाकुले जिनग्रहे जिननाथ महंयजे ।"

अध्यात्मयोगी पूज्य गुरुदेवश्रीकी वाणीसे मुखरित रससे ओतप्रोत 'आत्मधर्म' का प्रत्येक शब्द दिव्य ज्ञानका स्फोट, प्रत्येक पृष्ठ सहजानन्दकी ओर ले जानेवाला पथ-प्रकाश ! जैसे जैसे वे इसके पृष्ठ पलटते गये उनके वाच्य अवगाहनसे, अनादिरूढ व सर्व दोषोका जनक मिथ्यात्व और अज्ञानकी शक्ति क्षीण होने लगी। ज्ञानग्रंथियॉ यथोचित खुलती गई। आत्माके अनन्त लोकको यात्राकी दिशा उन्हें स्पष्ट होने लगी।

यद्यपि उनके बुद्धिजन्य स्थूल विपर्यास तो निरस्त हो गये, तथापि विकट समस्या खड़ी हुई कि उस परम सत्य तक पहुँचा कैसे जाए ? तदर्थ काफ़ी प्रयास किया, परन्तु समस्याका निवारण नही हो सका; स्वयंसे कोई समाधान – विधि नही सूझ रही थी, तो अब क्या किया जाये ? – ऐसी एक नई विचित्र उलझन उत्पन्न हो गई। एकाएक सहज ही गुरुदेवश्रीकी छविका मनमें आविर्भाव हुआ और तभी मार्गप्रकाशकके चरण-सान्निध्य और दर्शन हेतु उनका मन तड़प उठा, बस ! अब चैन कहॉ ? उस संतकी पवित्र चरणरजको अपने मस्तकपर धारण करनेकी उनकी लालसा प्रतिक्षण तीव्रसे तीव्रतर हो चली।

✿ सद्गुरुका प्रत्यक्ष योग :

अंततः वह चिरप्रतीक्षित सुमंगल घड़ी उदित हुई । श्री सोगानीजी सन् १९४६में प्रथम बार अपने आराध्य श्रीगुरुके पावन चरणोमे पूर्णतः नत होने स्वर्गनगरी (–सोनगढ़) जा पहूँचे ।

श्री सोगानीजीने अपने आराध्य साक्षात् चैतन्यमूर्तिकी पवित्र चरणरजको मस्तकपर चढ़ाने हेतु ज्यो ही अपना सिर नवाया तो उन्हे ऐसा महसूस हुआ मानो उनके अनादिरूढ मिथ्यात्वकी चूले ढीली होने लगी है । और वे अपने श्रीगुरुकी दिव्य मुखमुद्राको भावविभोर होकर, मंत्रमुग्ध-से अपलक निहारते हुए उनकी पारदर्शी चिन्मय मुद्राका निदिध्यासन करते रहे तो लगा जैसे श्रीगुरुके तेजस्वी मुखमण्डलकी दीप्तिसे उनका उदयगत मिथ्यात्व भी वाष्पशील हो चला हो । – ऐसी जात्यंतर स्थितिने श्री सोगानीजीके अंतरआलोडनकी दिशा स्वकेन्द्री होने योग्य अन्तर अवकाश बना दिया, जिससे उनके ज्ञानने स्वरूप-निश्चय-योग्य क्षमता ग्रहण की; उधर आत्मरससे ओतप्रोत वक्ता श्रीगुरुकी दिव्यवाणी मुखरित हुई, और उन्हे प्रत्यक्ष सत्-श्रवणका प्रथम (अपूर्व) योग मिला ।

✿ स्वरूप-निश्चय :

जैसे चातक पक्षी स्वाति-बूँदके लिए 'पी कहाँ...पी...कहाँ'की रट लगाये रहता है, वैसे ही श्री सोगानीजीको चिरकालसे 'सत्य...सत्य'की अन्तर रटन लगी हुई थी । और जैसे चातककी प्यास केवल स्वाति-बिदुसे ही बुझती है, वैसे ही उनके अन्तरमे धधकती – सत्यके अभावजन्य अशान्तिकी – दाहको श्रीगुरुकी पियुष वाणीकी शीतल फुहारसे शीतलता सम्भव थी । और जैसे स्वाति-बिदु सीपके सम्पुटमे पहुँचकर मोती बन जाता है, वैसे ही महान् मंगलमयी क्षणमे श्रीगुरुके श्रीमुखसे निर्झरित बोधामृत "ज्ञान अने राग जुदा छे"के भावको उन्होने चित्तमे अवधारण किया जो अलौकिक चैतन्य चिन्तामणिके रूपमें प्रकटित हुआ ।

यद्यपि श्री सोगानीजीको गुजराती भाषाका ज्ञान नहीं था, फिर भी उन्हें पूज्य गुरुदेवश्रीकी गुजराती भाषासे कोई कठिनाई नही हुई। और वस्तुस्थिति भी यही है कि प्रयोग-प्रधानी जीवको कोई भाषा बाधक नही बनती।

श्री सोगानीजीके लिए तो पूज्य गुरुदेवश्रीकी धर्मसभा ही मानो प्रयोगशालामें रूपांतरित हो गई। और उन्होने वही अपना प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। तदर्थ उन्होंने "ज्ञान अने राग जुदा छे" के वाच्यको डोर संभाली और उसके सहारे वे वाच्यके अन्तरतलमें उतरे और गहरे उतरते चले गये; उन्होंने वहाँ वर्तते राग तत्त्वका सूक्ष्म परीक्षण किया, तो उन्हे वह विभावांश, मलिन, स्वभाव-विरुद्ध, दुःखरूप और आकुलतामय भाव भासित हुआ। और वही साथ वर्तते ज्ञान तत्त्वके अन्वेषण पर उन्हें वह स्वभावांश, स्वच्छ, स्वभावभूत, सुखरूप और निराकुलतामय भासित हुआ — ऐसे उन्होने उक्त दोनो भावोंको यथार्थरूपसे पहचाना और वेदन पूर्वक उन दोनोंकी मूल जातिको समीचीनरूपसे सुनिश्चत किया। और फिर वे प्रगट ज्ञानांशमें वर्तते नित्य उदित सामान्यज्ञान परसे ज्ञानस्वभावमें सन्निहित अनन्त अनन्त गुण-समुद्रकी ओर बढ़े तो वहाँ उन्हे आश्चर्यकारी अनन्त विभूतियोंसे विभूषित चैतन्य मणि-रत्नोंसे छलकते अपने स्वभावकी झलक भासित हुई। — इस भाँति अपने ही ऐसे सत्यस्वरूपके निश्चयसे उन्हें "सिद्ध स्वभावी, अनन्त सुख धारक मै ही ऐसा महान् पदार्थ !!" — ऐसा भाव भासित हुआ।

✿ अतीन्द्रिय स्वरूप-स्वानुभूति :

श्री सोगानीजीको अपने परमोपकारी सजीवन ज्ञानमूर्ति श्री गुरुकी भवान्तकारी मंगल प्रवचनप्रसादीरूप देशनासे प्रतिभासित निज परम तत्त्वकी अनहद आश्चर्यकारी अपूर्व महिमा प्रदीप्त हो उठी ! जिससे उन्हें अपने परम चैतन्य तत्त्वका अभूतपूर्व रस व घोलन चालू हो गया। अनादिसे सुषुप्त पुरुषार्थ संचेतित हुआ और उनका चैतन्यवीर्य स्फुरित हो उठा। तदनुसार

उनको निर्विकल्प तत्त्वकी धुन अति वेग पूर्वक चलती रही । कब दिन ढला, कब निशाने अपनी काली चादर फैलाई, कुछ भान नही रहा; उन्हें सभी उदय संयोग-प्रसंग विस्मृत हो गये; बस ! अनवरत एक ही धुन चल रही थी ।

जब जगत्वासी नीरव निशीथिनीके अंकमे समा चुके थे तब वे 'समिति'के एक कमरेके कौनेमें बैठे अपने उद्दीप्त हुए चैतन्य-रसके प्रवाहमे निमग्न थे । उनका स्वरूपोन्मुखी सहज पुरुषार्थ पुरजोशसे गतिशील था । — ऐसी अपूर्व जात्यन्तर अन्तर स्थितिवश उनके सभी अन्तर्बाह्य प्रतिबन्धक कारण भी स्वयमेव अस्त हो गये । तभी तत्क्षण वृद्धिशील पुरुषार्थ-प्रवाह अपूर्व वेगसे वर्द्धमान हो अन्तर्मुख हो गया और उसी क्षण श्री सोगानीजीकी आत्माने अपने स्वसंवेदनमे रह कर, अपने प्रत्यक्ष परमात्माका दर्शन किया; और उन्हें अपने अतीन्द्रिय स्वरूपकी स्वानुभूति हुई । और तत्काल ही उनके आत्माके प्रदेश-प्रदेशमें अतीन्द्रिय स्वरूपानंदकी बाढ़ आ गई । अनादिसे अतृप्त परिणति स्वरूपानन्द-पानसे तृप्त-तृप्त हो उठी ।

जिनवाणीका निर्मल अमृत-प्रवाह उनकी अनादि कुंठाकी चट्टान तोड़कर छलछला उठा । विकल्प-समुद्रका गर्जन-तर्जन जैसे अनायास ही शान्त होकर थम गया । वे ऐसी भावसमाधिमे स्थिर हुए जहाँ न संकल्प था न विकल्प; न प्रवृत्ति थी न निवृत्ति; न मै था न तू । रह गया केवल अनहदमे शाश्वत शान्तिका साम्राज्य ।

श्रीगुरु-मिलनके प्रथम दिन ही नीरव निशाके अपार अन्धकारमे उदित ज्ञानके प्रकाशमे इस अनुपम पुरुषार्थीको यो निर्विकल्प दशा सम्प्राप्त हुई । अपने परमोपकारी श्रीगुरुकी निष्कारण कृपा-प्रसादी पाकर श्री सोगानीजीकी आत्मा निहाल हो गई ।

अपूर्व, अनुपम अमृत-रस पी लेनेसे उसकी मस्तीने उन्हे मदहोश-सा बना दिया । निरन्तर यही भावनाका संवेग वर्तता कि मै भावी सर्व काल पर्यन्त इसी ज्ञानानन्दकी मस्तीमें डूबा ही रहूँ और बस, निरन्तर आनन्दामृत पान करता रहूँ ।

जब तक वे सोनगढ़ रहे दिनमे पूज्य गुरुदवेश्रीकी स्वानुभवरसमय पुरुषाथ-प्रेरक वाणीका अमृत-बोध लेते और रात्रिमे अपने कमरेमे वैठ निजात्मरस-पानका उद्यम किया करते चेतनाके ऊर्ध्व शिखरोंकी ओर उनका आरोहण होता रहता । और सतत स्वरूपरस-घोलन चलता रहता । वे आत्माकी ही धुनमे रमे रहते और निरन्तर आध्यात्मिक तन्द्रा बनी रहती ।

इस तरह एक-एक पल सरकता गया और न जाने कब १०-१२ दिन निकल गये, उन्हे पता ही न था । तत्कालीन राजनीतिक उथल-पुथल-जन्य हिसात्मक दंगोंकी भयावह परिस्थितिमे भी वे श्रीगुरुके दर्शनार्थ इतने भावावेगमे थे कि उन्होंने परिवारवालोको अपने सोनगढ़ जानेके सम्बन्धमे सूचना तक नहीं दी थी । घरवाले यही समझते रहे कि कारोबारके सिलसिलेमे कही गये है और दो-चार दिनोमे लौट आयेगे । किन्तु जब हफ़्ते-दश दिनों तक भी उनका कोई समाचार तक नही मिला तो वे चितातुर हो उठे । काफ़ी छानबीन करनेपर जब उनकी सोनगढ़ जानेकी प्रबल सम्भावनाका आभास मिला तव उनके चितातुर परिवारने एक तार सोनगढ़ भी दिया । उस तारके सन्देशने श्री सोगानीजीकी आध्यात्मिक तन्द्रामें विक्षेप डाल दिया । और उन्हे मजबूरन् अपने भवमोचक श्री गुरुके साक्षात् चरणसान्निध्यको छोड़कर अजमेर लौटना पड़ा ।

❖ सहज उदासीनता :

श्री सोगानीजीको ज्ञानदशा पूर्व भी संसारासक्ति नहीं थी । उन्हे सांसारिक प्रसंगोमें कही कोई रस, रुझान या रुचि नही रहती थी । उनके बच्चे किन-किन स्कूलोमे व श्रेणियोंमे पढ़ते है ? उनके लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा व विकासकी क्या व्यवस्था है ? घर-गृहस्थीकी आवश्यकताओकी सम्पूर्ति हेतु क्या योजना है ? — इत्यादि अनेक प्रश्न व उलझनें जहाँ सामान्य मानवके अन्तर् मनको प्रायः व्यथित व कचोटते रहते है, वहाँ ऐसे प्रश्नोने उनकी अन्तर्मुख मनोदशाको कभी आन्दोलित या विचलित

नही किया ।

सोनगढ़से लौटनेके पश्चात् तो उनके परिणामोंमें एक विशेष प्रकारकी उदासीनता घिरी रहने लगी और निर्लिप्त भावसे परमान्दकी खुमारी निरन्तर वर्तने लगी। सर्व पूर्व प्रारब्ध उदय-जन्य सांसारिक उपाधियों व झंझटोंकी ओर अस्थिरतावश जाता उनका उपयोग भी, उन्हें वर्तती सहज स्वरूपपरिणतिको, भाररूप प्रतीत होता व उसमें भट्ठीमे जलने-सी पीड़ाका वेदन होने लगता था। तथापि सर्व उदयगत् विभावभावोंको निरुपायतावश अविषम परिणामसे वेदते रहना ही उनकी नियति थी। तत्त्वतः सहजता, सहज समता व सहज उदासीनता सर्व ज्ञानीपुरुषोंका सनातन सदाचार होता है।

✿ कलकत्ता-प्रवास :

निवृत्ति लेकर, श्रीगुरु-चरणसान्निध्यमे रहकर ऐकान्तिक स्वरूप-साधनाके प्रति श्री सोगानीजीको असीम आकर्षण व भावना वर्तती थी; फिर भी उन्हे नियतिके पाशमे बँधकर, लाचारीसे सन् १९५० मे अजमेर छोड़ना पड़ा; और अपनी भावनाके अत्यन्त प्रतिकूल क्षेत्र — असत्संग-प्रसंगके बाहुल्यसे घिरे व कोलाहलँयुक्त, मायामयी महानगर 'कलकत्ता'में एक प्रसिद्ध कपड़ा मिलकी एजेन्सीके कार्यभारवश जाना पड़ा। सन् १९५८ मे उनका पूरा परिवार भी कलकत्ता आ बसा। और उक्त वस्त्र व्यवसायकी प्रवृत्तिमें उनका बाह्य शेष जीवन भी कलकत्तामे ही व्यतीत हुआ।

इसी बीच उन्होने सत्संगकी भावनासे सन् १९५३ से कलकत्ता स्थित बड़े मन्दिरजीमें शास्त्रस्वाध्यायकी प्रवृत्ति शुरू की थी। तथा अन्तिम वर्ष (सन् १९६४)मे भी उन्होने लगभग ४० दिनों तक सामूहिक शास्त्र-स्वाध्याय किया था।

सन् १९५६ मे अपने जीवन-उद्धारक पूज्य गुरुदेवश्री कहानजी स्वामीके तीर्थयात्राके प्रसंगमे कलकत्ता पधारनेके पूर्व जब उनके भव्य

स्वागतार्थ कलकत्तामें मुमुक्षुमण्डलकी स्थापना हुई तो उसके प्रथम अध्यक्षके रूपमे श्री सोगानीजीको मनोनीत किया गया था।

✿ अन्तर वैराग्य :

जब श्री सोगानीजी शुरुआतमे कलकत्ता आये तब इस भागदौड़ व दावँ-पेचवाली नगरीकी ६०-७० लाखकी आबादीमे उनके पास न रहनेके लिए स्थायी जगह थी और न खाने-पीने आदिकी कोई समुचित व्यवस्था; फिर भी, ऐसी प्रतिकूलतामें भी उन्हे भान होता कि मानों इस अथाह मानव-समुदायमें "मै एक अकेला ही सुखी हूँ", अरे! निश्चित ही वे सुखी थे। आत्मानन्दका रसास्वाद करनेवाला स्वयंको सुखी ही क्या, सर्व सुखी महसूस करता है।

उन्हे संसार अरुचिकर था, फिर भी इस संसारके किचड़मे उन्हे फँसना पड़ा। पूर्व निबन्धित प्रारब्धवश आ पड़े इस सांसारिक कीचड़मे अपने जड़ शरीरका योग देते हुए भी उनकी आत्मा निरन्तर अपने घोलनमे रहती। जब-जब भी उदयगत बाह्य संसार उन्हें अपनी ओर खीचता, गृहस्थीके जंजाल अपनी ओर आकर्षित करते तो वे यही कहते थे : 'अरे मुझसे कुछ भी आशा मत रखो, पंगु समझकर दो समयका भोजन शरीर टिकानेके लिए दो।'

श्री सोगानीजीकी बुद्धिमत्ता, कार्यकुशलता व नीति सम्पन्नताके कारण उनके पास जब तब नये व्यवसायके अनेक प्रस्ताव आते थे परन्तु उपाधिको सीमित रखनेकी भावनावश व ऐसे प्रस्तावोको टाल दिया करते थे; यद्यपि उन्हे परिवारकी आवश्यकताओके बढ़ते बोझका ख़याल था।

यद्यपि पूर्व अज्ञानदशामे निबन्धित कर्मोके कारण उनका सांसारिकप्रवृत्तियोसे बाह्य सम्बन्ध तो नही टूट सका, बलवान उपाधियोग अन्त तक बना रहा, वे सर्व उपाधियोंके बीच निर्लिप्त रहते हुए भी प्रवृत्तिका भार ढोते रहे; तथापि उनकी आत्म-समाधिधारा जीवन पर्यन्त अबाधित वर्तती रही। ज्ञानधारा व कर्मधारा निरन्तर प्रवहमान रही। सहज पुरुषार्थ

वर्द्धमान होता रहा। जीवन पर्यन्त सहज उदासीनता व अन्तर वैराग्य उनके परिणामोमे उग्रतासे वर्तता रहा। एक ओर उनकी प्रवर्तती उग्र अध्यात्मदशा व दूसरी ओर प्रबल उपाधियोगका परिचय उन्हीके पत्रोसे मिलता है। ज्ञानीकी ऐसी चित्र-विचित्र व अटपटी दशाओंके अनेक पहलुओको प्रदर्शित करते श्री सोगानीजीके पत्रोके कुछ अंश यहाँ उद्धृत है :–

☐ "मै त्रिकाली सहज ज्ञानस्वभावी ध्रुव पदार्थ हूँ व प्रतिक्षण ज्ञानरूप परिणमन मेरा सहज स्वभाव है; जड़ आश्रित परिणाम जड़के है।" पूज्य गुरुदेवश्रीके इस सिद्धांतकी घूँटीने क्षणिक परिणामकी ओरके वलणके रसको फीका कर दिया है व सहज स्वके सिवाय कोई कार्यमे रस नही आता है।"

– (पत्रांक : १; अजमेर/२२-३-१९४९)

☐ "यहाँ संग, असत्संगका है, उदय नीरस है। वहाँ (–सोनगढ़) का योग निकट भविष्यमे होनेके आसार दिखाई नही देते, अतः अत्यन्त उदासीनता है व व्यवहारमे तो वेभान-सी दशा हो जाया करती है।"

– (पत्रांक : ७; कलकत्ता/१८-५-५३)

☐ "स्वसंग, गुरुसंग व मुमुक्षुसंगके अलावा दूसरे संगको नही इच्छते हुए भी, अरे प्रारब्ध ! विषतुल्य संगमे रहना पड़ रहा है, खेद है।"

– (पत्रांक ९; कलकत्ता/५-७-५३)

☐ "मोक्षमार्गीको कुटुम्बीजनो मध्ये सुख मिलता होवे, यह कल्पना ही ग़लत है।

'जाल सौ जग-विलास, भाल सौ भुवन धास,
काल सौ कुटुम्ब काज, लोक-लाज लार सी।'

– (श्री बनारसीदास)

उसे तो निरन्तर आत्म-रमणता चाहिए। 'अरे! जिसे धार्मिक जनोके संग भी नही रुचते, उसे कुटुम्बसंग तो रुच ही कैसे सकता है !"

– (पत्रांक : १७; कलकत्ता/ २५-७-५४)

☐ "व्यवहारसे व ख़ास तौरसे अशुभयोगसे पूर्ण निवृत्ति चाहते हुए

भी, गृहस्थ आदि व्यावसायिक जंजालोका ऐसा उदय है कि मन नही लगे वहॉं लगाना पड़ रहा है, बोलना नहीं चाहते उनसे बोलना पड़ता है, ऐसी योग्यता है।''

— (पत्रांक : २६; कलकत्ता/ १६-१२-६१)

✿ सत्संग-भावना :

श्री सोगानीजीको अपने श्रीगुरुके चरणोंमे निवासकी भावनाका प्रबल आवेग रह रह कर उद्वेलित करता रहता था; तथापि पूर्व प्रारब्धयोगके बिना उन्हे सांसारिक जंजालोंसे विमुक्त हो सकनेका योग नही बनता था। यद्यपि वे सर्व प्रथम सोनगढ़ आये थे तब ही उनकी तीव्र भावना थी कि ''कोई मकानका प्रबन्ध कर निरन्तर गुरुदेवके चरणोमे लाभ उटाऊँ'' — (देखें : पत्रांक : १९)। परन्तु वैसा योग तो नही बन पाया; बल्कि कभी-कभी तो लम्बे अन्तरालके पश्चात् ही श्रीगुरुके दर्शनोका योग बनता था।

श्री सोगानीजी सर्व प्रथम सन् १९४६मे सोनगढ़ पधारे थे; तत्पश्चात् उनका सोनगढ़ आनेका योग क्रमशः सन् १९४८, १९५३, १९५९,१९६०, १९६१, १९६२, १९६३ मे ही बन पाया था और वह भी मात्र थोड़े-थोड़े दिनोके लिये ही। अभिवांछित योग न मिलनेके प्रति उन्हें निरन्तर खेद वर्तता रहा। उन्हे अपने श्रीगुरुके चरणसान्निध्यमे न रह पानेकी कितनी वेदना सालती थी, जिसकी झलक उनके पत्रोमे मिलती है। उदाहरणार्थ :—

☐ ''पू. गुरुदेवकी स्मृति इस समय भी आ रही है व ऑंखोमे गर्म ऑंसू आ रहे है कि उनके संग रहना नही हो रहा है।''

— (पत्रांक : ४ कलकत्ता / २१-६-५२)

☐ ''यहॉं तो पुण्ययोग ही ऐसा नही है कि वहॉं (सोनगढ़)का लाभ शीघ्र-शीघ्र मिला करे। निवृत्तिके लिए जितना अधिक छटपटाता हूँ उतना ही इससे दूर-सा रहता हूँ, ऐसा योग अबके हो रहा है। कई वार तो फूट-फूट कर रोना-सा आ जाता है। शायद ही कोई दिवस ऐसा

निकलता है कि वारम्वार वहाँका स्मरण नही आता होवे।"

— (पत्रांक : ८; कलकत्ता / २८-६-५३)

☐ "अरे विकल्प ! यदि तुझे तेरी आयु प्रिय है तो अन्य सबको गोण कर व गुरुदेवके संगमे ले चल, वरना उनका दिया हुआ वीतरागी अस्त्र शीघ्र ही तेरा अन्त कर डालेगा।"

— (पत्रांक : ९, कलकत्ता / ५-७-५३)

☐ "रह-रह कर विकल्प होता रहता हे कि कमसे कम एक-दो वर्ष निरन्तर अलौकिक सत्पुरुषके सहवासमे रहना होवे, परन्तु प्रारब्ध अभी ऐसा नही दिखता है।"

— (पत्रांक : १४; कलकत्ता / १-२-५४)

☐ "पुण्ययोग नही है, वहाँ (— सोनगढ़)का संयोग नही है, अरुचिकर वातावरणका योग है। महान् अफ़सोस है।"

— (पत्रांक : १५; कलकत्ता / २५-६-५४)

☐ "हे प्रभो ! शीघ्र इधरसे निवृत्ति होकर गुरु-चरणोमे रहना होवे, जिन्होने अखण्ड गुरुवासमे चरना सिखाया है, यह ही विनती।"

— (पत्रांक : २७; कलकत्ता / ९-४-६२)

✿ निवृत्ति-भावना :

वस्तुतः निवृत्तिकी तीव्र अभिलाषा सर्व ज्ञानी पुरुषोको निरन्तर वर्तती ही है। श्री सोगानीजी भी निवृत्तिके लिए सतत छटपटाते रहे, निवृत्तिके लिए योजना घड़ते परन्तु वैसे पुण्ययोगके अभावमे वे फलित न हो पाती; तथापि निवृत्तिकी भावना कितनी बलवती थी और उसकी वार्त्ता भी उन्हे कितनी रुचिकर थी, उसका परिचय निम्न उद्धरणसे स्पष्ट मिलता है :

☐ "आपने लिखा था कि अब निवृत्ति काल पका, यह पढ़कर विजलीके वेगकी तरह आनन्दकी लहर आई थी; कारण पूर्वे निवृत्ति ही विकल्परूपसे निश्चये भजी थी; ऐसा पूरा प्रतीतिमे आता है।"

— (पत्रांक : २९ कलकत्ता / ३-९-६२)

✿ एकान्तप्रियता :

श्री सोगानीजीको एकान्तवास अति रुचिकर था। वे जहाँ तक सम्भव होता वहाँ तक किन्हीसे मिलना-जुलना व परिचयमें आना पसन्द नही करते थे। वे जहाँ हो वहाँ एकान्त खोजते रहते। प्रायः उन्हे अपने कमरेमे बन्द रहना ही अभीष्ट था। भीड़ व कोलाहलभरे वातावरणमे उनका दम घुटने-सा लगता था।

उनके परिवारके कलकत्ता आ जानेके पहले जब भी ३-४ दिनोकी छुट्टियोमें बाजार आदि बन्द रहनेकी वजहसे बाहर जानेकी आवश्यकता नही समझते तो वे ढाबेसे भोजनकी थाली अपने कमरेमें ही मँगा लेते और एक बारमे जो भी खाना थालीमे आता उसे ही खा कर, थाली कमरेके दरवाजेके बाहर सरका देते। यो ऐसे प्रसंगों पर वे अपने निवासस्थानसे तीन-तीन चार-चार दिनों तक बाहर ही नहीं निकलते।

वे लम्बी अवधि तक कलकत्ता रहे फिर भी ख़ास परिचित मार्गोंके अलावा दूसरे मार्गोसे अपरिचित ही रहे।

जब सन् १९५३ के श्री बाहुबली-महा मस्तकाभिषेकसमारोहके समय एकान्तवासकी यह समस्या जटिल थी तो वे देर रात गये अकेले ही पहाड़के ऊपर चढ़ जाते और वही पूरी रात अपने स्वरूपके ध्यान-घोलनमे गुजार देते, तथा फिर प्रातः ही पहाड़से उतरकर कमरे पर आते।

एकान्तवासके प्रति रुझानके परिणाम स्वरूप बाह्य जगत् उनके लिए अपनी उपस्थिति खोता जाता था।

तत्त्वचर्चाके दौरान एक बार उन्होंने बतलाया कि "मुझे तो एकान्तके लिए समय नही मिले तो चैन ही नही पड़ता।"..."आख़िर तो एकान्त (अकेला) ही सदा रहना है। तो शुरूसे ही एकान्तका अभ्यास दो-चार-पाँच घण्टा चाहिए।"

✿ श्री सोगानीजीकी दृष्टिमें सांसारिक प्रसंग :

समस्त लोक समुदाय विवाह जैसे प्रसंगको मांगलिक, शुभ व आनन्द-उमंगका महत्त्वपूर्ण अवसर मानता है। परन्तु श्री सोगानीजीने एक अन्तरंग साधर्मीको अपने पुत्रके विवाहका निमन्त्रणपत्र भेजा अवश्य, पर साथमे जो विचार उन्होने लिखे उससे उनकी सांसारिकप्रसंगोकी तुच्छता और सत् प्रतिकी अनन्य महिमा ही उजागर होती है। तदर्थपत्रांक : २७; कलकत्ता / ९-४-६२ का निम्न उद्धृत अंश दृष्टव्य है :–

☐ "बड़े पुत्रकी शादी ता. १६-४ की है; पुण्यवानोको शुभप्रसंगका योग है, उन्हे अशुभ प्रसंग पर बुलवाना ठीक नही है; फिर भी लौकिक व्यवहारवश दो पत्रिकाएँ भिजवाई है।"

✿ निर्मानता :

सर्व लौकिकजनोंको जहाँ हो वहाँ – घर, परिवार, समाजमे सर्वत्र अपने प्रभुत्व-मान-सम्मान-स्थान प्राप्तिकी अन्तरंग अभिलाषा निरन्तर वर्तती है। वही सच्चे आत्मार्थीकी ऐसे सभी प्रसंगोंसे दूर रहनेकी सहज वृत्ति रहती है। यदि उसकी विशेष योग्यता हो तो भी वह उसे गोपित रखना चाहता है। अपनी प्रसिद्धिका अभिप्राय उसे नही रहता। श्री सोगानीजीकी आत्मदशा अद्भूतरूपसे वर्तती थी परन्तु वे उसे प्रसिद्ध नही करना चाहते थे। फिर भी उनसे एक अन्तरंग साधर्मीने दूसरे ढंगसे अनुरोध किया कि : पूज्य गुरुदेवश्रीके निमित्तसे आपको आत्मबोध हुआ है, इस बातको जानकर उन्हे सहज प्रसन्नता होगी, अतः आपकी ज्ञानदशाके बारेमें गुरुदेवश्रीको बतलानेका विकल्प है! तब उन्होने कहा : "कोई जाने न जाने, इसमें आत्माको कोई फायदा नहीं है। अनन्त सिद्ध हो गये है, (लेकिन) आजकल कोई उनके नाम तक भी नही जानता है! असंख्य सम्यग्दृष्टि (तिर्यंच) ढाई द्वीप बाहर मौजूद है, उन्हे कौन

जानता है ?" उनका यह प्रत्युत्तर उनके वर्तते निम्न अभिप्रायके अनुरूप ही था । यथा :

"फूल बाग़में हो या जंगलमें, उसको कोई सूँघो या न सूँघो, उसकी क़ीमत तो स्वयंसे है। कोई सूँघे तो उसकी क़ीमत बढ़ नही जाती अथवा नही सूँघे तो वह मुरझा नहीं जाता । इसी तरहसे कोई अपनेको जाने या न जाने उससे अपना मूल्य थोड़ा ही है ! अपना मूल्य तो अपनेसे ही है । कोई मान-सम्मान देवे, न देवे – सब धूल ही धूल है, उसमें कुछ नही है ।"

✿ निस्पृहता :

श्री सोगानीजी जिस कपड़ा मिलकी एजेन्सीका व्यवसाय करते थे उस मिलके मालिकको एकबार जब उनके धर्म-प्रेम व योग्यताका पता चला तो उन्होने कौतूहलवश उनको जब तब अपने घर आकर धर्म समझानेको कहा । परन्तु उन्होंने उनमे वास्तविक धर्म-जिज्ञासाका अभाव तथा कौतूहलता देखकर, समयाभावके बहाने उनके उक्त प्रस्तावको टाल दिया । श्री सोगानीजीके मनमें तो (बादमें उन्हीके बतलाए अनुसार) यों विचार आया कि : यह तो सांसारिक आवश्यकता पूर्ति हेतु उनके पास आनेकी विवशता है; अन्यथा ऐसे कार्योंके लिए आत्मार्थीके पास समय ही कहाॅं ? जहाॅं ऐसी परिस्थितिमे सामान्य लौकिक जन जिनसे अपने अर्थ-प्रयोजनकी सिद्धिकी अपेक्षा रहती है वे उनके अनुरूप वर्तन करते है; वही श्री सोगानीजीका उक्त प्रकारका वर्तन उनकी निस्पृहवृत्तिको उजागर करता है ।

✿ तत्त्व-प्रेम :

तत्व-प्रेमी जिज्ञासुओंके प्रति श्री सोगानीजी इतने करुणावन्त थे कि व्यावसायिक व निजी प्रवृत्तियोंके बीच भी समय, स्थान आदि सब बातोंको गौण कर उनकी जिज्ञासाओंका समाधान कर दिया करते थे । कई बार

तो वे सड़कके किनारे खड़े-खड़े ही काफ़ी देर तक धर्म-चर्चा करते रहते थे ।

उनका एक मुमुक्षुसे व्यावसायिक सम्बन्ध भी था, उससे व्यापारिक कार्य यथाशीघ्र निपटा कर वे धर्म-चर्चामे लग जाते थे ।

वे आख़िरके वर्षामे धार्मिक प्रसंगोके अवसर पर मुमुक्षुओ द्वारा घिरे रहने लगे, परन्तु समय मिलते ही अकुलाए बिना उनके प्रश्नोंके उत्तर दिया करते थे ।

रुचिवन्त अन्तरंग परिचयवाले साधर्मियोंके साथ तो उन्हे देर रात गये तक धर्म-चर्चामे व्यस्त देखा जाता था ।

व्यवसायिक कामसे थक कर लौटने पर भी यदि कोई मुमुक्षु तत्त्व-जिज्ञासा लिए घर पहुँच जाता तो वे तत्काल उसकी उलझन दूर कर देते थे ।

✿ निश्चय-व्यवहारसंधि युक्त जीवन :

सर्व ज्ञानीधर्मात्माओकी साधक परिणतिमे निश्चय-व्यवहारका अद्भूत सामंजस्य वर्तता है । तत्त्वतः साधकदशाका ऐसा ही यथार्थ स्वरूप होता है । निश्चय-व्यवहाररूप प्रवर्तती धर्मदशाके संतुलन व सुसंगत संधिके आधारसे ही धर्मात्माकी दशाका प्रमाणीकरण होता है । श्री सोगानीजीकी इन दोनो दशाओंके बीच वर्तते सम्यक् संतुलनके प्रमाण उनके पत्र है । यथा :

☐ "“सत्गुरु द्वारा प्राप्त अनुभव ऐसे कालमे विषमता आदिको समतापने वेदे व अप्रतिबद्ध स्वभावसन्मुख तीव्र वेग करे, यह ही सबसे श्रेष्ठ है व शीघ्र मनोरथ पूर्ण होनेका यह ही शुभ लक्षण है ।”

– (पत्रांक : ७; कलकत्ता / १८-५-५३)

☐ “अहो गुरुदेव ! आपने तो इन दोनोंसे (– पुण्य-पापसे) ही निराली वृत्ति दिखा दी है, जो कि इनके होते हुए भी विचलित नही होती, खूँटेके (– ध्रुवके) सहारेसे डिगती नही है, उसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका

प्रतिबन्ध नहीं है । पू. गुरुदेव कहते है कि जो कुछ लाभ है सो तो यह वृत्ति ही है, अनन्त सुखोके पिण्डके साथ रहती है, फिर चिन्ता काहे की ? यह तो स्वयं स्वभावसे ही चिन्ता रहित है, निश्चिन्तवृत्तिमे चिन्तित वृत्तिका तो अत्यन्त अभाव है । हे भगवान ! आपकी यह वाणी मस्तिष्कमें नित्य घूमती रहे, यह ही भावना है ।''

– (पत्रांक : १५; कलकत्ता / २५-६-५४)

☐ '''प्रदेशे-प्रदेशे मै मात्र चैतन्य-चैतन्य व आनन्द ही आनन्दसे ओतप्रोत वस्तु हूँ । स्वरूपरचना पर्यायमे स्वतः ही हुए जा रही है । इच्छा तोड़ूँ, स्वरूपकी वृद्धि करुँ आदि विकल्पोका जिस सहज स्वभावमें सहज ही अभाव है । अरे ! सहज शुद्ध पर्यायका भी जिस त्रिकाली ध्रुव वस्तुमे सहज ही अभाव है, ऐसी नित्य वस्तु मै हूँ, त्रिकाली परिपूर्ण हूँ ।''

– (पत्रांक : १७; कलकत्ता / २५-७-५४)

☐ ''परिणतिको आत्मा ही निमित्त होवे अथवा भगवान ...भगवानकी गुंजार करते आप (– श्री कहानजी स्वामी); अन्य संग नही; यह ही भावना ।''

– (पत्रांक : २६; कलकत्ता / १६-१२-६१)

☐ ''विकल्पोंको तो धधकती हुई भट्ठीके योगोका निमित्त है व इस मध्ये ही रहना हो रहा है, जबकि चैतन्यमूर्ति विकल्पोंको छूनेवाली भी नही; अधूरी दशाके विकल्पांशोमे श्रद्धामे जमी हुई इस मूर्तिका एकरस आलिंगन कहाँ !''

– (पत्रांक : २९; कलकत्ता / ३-९-६२)

☐ ''वर्तमानमे ही परिपूर्ण हूँ । वर्तमानसे ही देवादिक पर अथवा उन आश्रित रागसे किंचित् मात्र लाभका कारण नहीं । लाभ मानना ही अलाभ है ।''

– (पत्रांक : ३०; कलकत्ता / ८-११-६२)

यों श्री सोगानीजीके व्यक्तित्वमें एक ओर निश्चयप्रधानताकी विस्मयकारी शैली व दूसरी ओर गुरुभक्ति व निमित्तका यथार्थ मूल्यांकनका

अत्यन्त सुन्दर व स्वाभाविक सन्तुलन तैरता है; जो आत्मार्थियोंके लिए सतही तौर पर विरोधाभास दिखनेवाले ऐसे अभिप्रायमे अंतर्निहित परिणामकी अविनाभावी व सहज यथार्थ दिशारूप पहलूके रहस्यको समझनेमे अत्यन्त सार्थक निमित्त है । यो वीतरागमार्गके पथिक ही भक्ति व गुरु-महिमाके आवरणमें छिपे निजरसको यथार्थतः संवेदित करते है ।

✿ गुरुभक्ति :

यद्यपि श्री सोगानीजीने निरपवादरूपसे स्वतत्त्वकी सर्वोच्चता व एकमात्र उसीके अवलम्बनको मुक्तिमार्गकेरूपमे सर्वत्र गाया है; तथापि जिन श्रीगुरुके निमित्तसे उन्होने अनादि संसारके एकच्छत्री सरदार दर्शनमोहको परास्त कर, मोक्षमार्गके प्रथम सोपानको पाया है; उनके अनहद उपकारके मूल्यांकनवश साधकके हृदयमें किस असाधारण सर्वार्पणता, भक्ति, महिमा, विरह-वेदन स्पंदित व संवेदित होती रहती है उसका विस्मित-सा कर देनेवाला जीवन्त उदाहरण भी उन्हीके पत्रोमे सुस्पष्ट मिलता है । यथा :

☐ "वहाँ (– सोनगढ़)की धूलके लिए भी तड़पना पड़ता है । गुरुदेवके दृष्टांत अनुसार भभकती भट्ठीमे गिरनेका-सा प्रत्यक्ष अनुभव यहाँ एक दिनमें ही मालूम होने लग गया है । धन्य है वहाँके सर्व मुमुक्षु, जिनको सत्पुरुषका निरन्तर संयोग प्राप्त है ।"

– (पत्रांक : ६; अजमेर / १८-४-५३)

☐ "हे गुरुदेव ! आपकी वाणीका स्पर्श होते ही मानो विश्वकी उत्तमोत्तम वस्तुकी प्राप्ति हो गई । क्या मै मुक्त होनेवाला हूँ ! अरे ! शास्त्रोमे जिस मुक्तिकी इतनी महिमा बखानी है, उसे आपके शब्द मात्रने इतना सरल कर दिया !"

– (पत्रांक : १७; कलकत्ता / २५-७-५४)

☐ "भरतखण्डका अलौकिक कर्ता-कर्म अधिकार, आत्मरससे ओतप्रोत वक्ता, साधक मुमुक्षुगण श्रोता, जिनालयकी सामूहिक भक्ति, निरन्तर अमृतवाणीसे संस्कारित-तृप्त भूमिस्थान आदि समवसरण-से दृश्य

पुण्यहीनको नही सम्भवते, अतः वियोग है।"

– (पत्रांक : २४; कलकत्ता / १९-१०-६१)

☐ "शुभयोगमे भी थकान अनुभव करनेवाले जीवके लौकिक योगकी तीव्र दुःख दशा पर...हे करुणासिंधु ! करुणा करो...करुणा करो, यह ही विनती।"

– (पत्रांक : २४; कलकत्ता / १९-१०-६१)

☐ "सतत दृष्टिधारा बरसाते, अखण्ड चैतन्यके प्रदेश-प्रदेश सहज महान् दीपोत्सवकी क्षणे-क्षणे वृद्धि करते श्री गुरुदेवको अत्यन्त भक्तिभावे नमस्कार !"

– (पत्रांक : २५; कलकत्ता / १-११-६१)

☐ "दरिद्रीको चक्रवर्तीपनेकी कल्पना नही होती। पामरदशावालेको 'भगवान हूँ...भगवान हूँ'की रटन लगाना, हे प्रभो ! आप जैसे असाधारण निमित्तका ही कार्य है।"

– (पत्रांक : २६; कलकत्ता / १६-१२-६१)

☐ "अतः तीर्थकरसे भी अधिक सत्पुरुषका योग प्राप्त हुआ है, जिनकी नित्य प्रेरणा उधरसे विमुख कराकर स्वयंके नित्य भण्डारकी ओर लक्ष्य कराती रहती है; यहाँ से ही पूज्य गुरुदेवके न्याय अनुभव सिद्ध होकर दृढता प्राप्त कराते है।"

– (पत्रांक : ४४; कलकत्ता / १०-९-६३)

✿ अध्यात्म-दशा :

यद्यपि विकल्पात्मक वृत्तियोका तो सहज ही अनुमान कर लिया जाता है परन्तु निर्विकल्पताका माप तो बाह्यसे नही किया सकता है, वह तो स्वयंके अनुभवका विषय है। और अनुभव लेखनीमे व्यक्त करना अशक्य होता है तथापि श्री सोगानीजीने अपनी प्रवर्तती अध्यात्मदशाको अनुपम पद्धतिसे यत्किंचित् इंगित किया है। उनकी अंतर्दशाके परिचयार्थ उनके पत्रो व अन्य प्र[illegible]की सूक्ष्मतासे निरीक्षण करे तो उसकी प्रतीति सहज ही हो जाती है।

उनकी आत्मपरिणति स्वस्वरूपमे उग्रतासे जमी रहती, निरन्तर स्वरूपरस प्रगाढ होता रहता और स्वरूपघोलन व उसकी धुन अनवरत चलती रहती थी। तादृश उनके मन-वचन-काय योग भी इतने उपशमित थे कि जिससे वे जनसमुदायमे भी किसी पैनी नज़रवालेके द्वारा सहज पहचाननेमे आ सकते थे।

उदाहरणार्थ : बम्बईमे एकबार वे एक मुमुक्षुके यहाँ भोजन करने गये, वहाँ अन्य लोग भी आमंत्रित थे; जब भोजनके पश्चात् सभी चले गये तब उसके वयोवृद्ध रसोईयाने उत्सुकतावश पूछा कि वे एक नये व्यक्ति कौन थे ? उस मुमुक्षुने इस प्रश्नका कारण जानना चाहा तो रसोईयाने कहा कि अपनी ज़िदगीमे मैने अपने हाथो हजारो लोगोको जिमाया है परन्तु आज पहली बार एक प्रतिमाको जिमाया है। वह 'प्रतिमा' श्री सोगानीजी थे।

यद्यपि वे बाह्यमे खाने-पीने-बोलने-चलने आदिकी प्रवृत्तियोमे दिखलाई देते, तथापि उनके गाढ अन्तरंग परिचितोको ऐसा स्पष्ट ख़याल आता कि उनकी आत्मपरिणति अन्तरमे अति आश्चर्यकारी रूपमे जमी हुई है।

अपने निवास स्थानमे भी उन्हे अपनी शारीरिक आवश्यकताओंका ख़याल तक नही रहता था। अपने वस्त्रो आदिका भी उन्हे पता नही रहता था। घरमे क्या है और क्या नही, इसकी जानकारी उन्हे नही रहती थी। जो आमदनीकी रक़म उनको मिलती वे उसे अपनी धर्मपत्नीको सौप देते।

उन्हे स्वरूपध्यान-घोलनकी मुख्यता वर्तती थी और अन्य सबकी गौणता; फ़िर वह चाहे भोजन हो या व्यवसाय या फिर कुछ अन्य। वे अपने कमरेसे बाहर कब निकलेगे या कमरेमे कब चले जायेगे या किस समय व्यावसायिक प्रवृत्तिहेतु बाजार जायेगे, कुछ निश्चित नही था।

उन्हें अपनी पसंदीदा भोजन-सामग्री कुछ न थी; क्या खाया और कैसा था, कुछ भान नही रहता था। कभी तो ऐसा भी होता कि वे भोजन

करनेके लिए कमरेसे आये और एक-आध रोटी खा कर ही पुनः कमरेमे चले जाते और द्वार बन्द कर लिया करते।

बहुधा दीर्घ समय ध्यानमें बैठनेके दौरान थकान लगनेपर वे लेट जाते थे परन्तु पैरोकी पद्मासनमुद्राको यथावत् रखते हुए ही — इससे स्पष्ट है कि शारीरिक अनुकूलताके लिए वे ऐसे मुद्रा बदल लेते थे, परन्तु उपयोगकी अंतर्मुखताका प्रयास यथापूर्व बना रहता था।

सभी सम्यग्दृष्टियोके अनन्तानुबन्धी कषाय चौकड़ीका अभाव होनेसे उनके तद्‌निमित्तक निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि — इन तीन प्रकारकी निद्रा-प्रकृतियोका भी अनुदय रहता है। श्री सोगानीजीका निद्रा-काल भी सहज ही अति अल्प हो गया था जो उनकी अंतर्दशा व उग्र पुरुषार्थको लक्षित करता है। उन्हीके वचनानुसार : "मुझे तो (सोते वक्त) पहले दो घण्टे नीद नही आती, फिर थोड़ी नीद आ जाए तो जगते ही ऐसा लगे कि क्या नीद आ गई थी !! फिर नीद उड़ जाती है; और यही (स्वरूप-घोलन) चलता रहता है।"

श्री सोगानीजीने अपनी प्रवर्तती दशाके सम्बन्धमे जो उल्लेख किया है, वह प्रस्तुत है :—

☐ "गुरुदेवश्रीके गुरुमंत्रका उपयोग करते रहनेसे अर्थात् अखण्ड ज्ञानस्वभावका आश्रय लेते रहनेसे, जैसे-जैसे पुण्यविकल्प सहज ही टूटते जाते हैं वैसे-वैसे आत्मामें सर्व विशुद्धि सहज ही विकसित होती जाती है।"

—(पत्रांक : २; अजमेर / २९-९-४९)

☐ "मैं मुझमे मेरे गुरुदेवको देखनेका सतत प्रयत्न करता रहता हूँ और जब-जब गाढ दर्शन होता है तब-तब अपूर्व-अपूर्व रसास्वादका लाभ लेता रहता हूँ, मानसिक विकल्परूपी भारसे हलका होता रहता हूँ, सहज ज्ञानघन स्वभावमे वृद्धि पाता रहता हूँ।"

— (पत्रांक : ३; अजमेर / ३-७-५०)

☐ "सहज परम निवृत्तिमय कारणपरमात्माका आश्रय पूज्य गुरुदेवने

ऐसा वतला दिया है कि उसके अवलम्बनसे सहज परम अनाकुलता उत्पन्न होती रहती है । ''

– (पत्रांक . ५; कलकत्ता / २८-१०-५२)

☐ ''जिस आत्मद्रव्यमे परिणाम मात्रका अभाव है उसमे जम गया हूँ । परिणमन सहज, जैसा होता है, होने दो; हे गुरुदेव ! आपके इन वचनोने अपूर्व निश्चलता पैदा कर दी हे ।''

– (पत्रांक : १९; कलकत्ता / २३-३-५६)

☐ ''राग टूटना निश्चित है क्योकि श्रद्धाने राग-अरागरहित स्वभावका आश्रय लिया है व वीर्यकी क्षण-क्षण उधर ही उधर सहज उन्मुखता होनेसे ज्ञान-आनंदमयी अरागी परिणाम ही वृद्धिगत होगे, यह नियम प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है ।''

– (पत्रांक : १९; कलकत्ता / २३-३-५६)

☐ ''यहाँ तो पूज्य गुरुदेवने आत्मगढ़मे वास कराकर प्रसाद चखाया है; अतः क्षणिक विकल्प भी सहज विस्मरण होते रहते है । कहता हूँ कि : हे विकल्पांश ! तेरे संग अनादिसे दुःख अनुभव करता आया हूँ, अव तो पीछा छोड़ । यदि कुछ काल रहना ही चाहता है तो सर्वस्व देनेवाले परम उपकारी श्री गुरुदेवकी भक्ति-सेवा-गुणानुवादमे ही उनके निकट ही वर्त !''

– (पत्रांक . ४२; कलकत्ता / २१-८-६३)

✿ भावाभिव्यक्ति-क्षमता :

निर्विकल्पदशाके क्षणोमे वर्तित विविध गुणोके पर्याय भावोका ज्यो का त्यो सूक्ष्म विश्लेषण प्रायः कही पढ़नेमे नही मिलता है । और वस्तुस्थिति भी यही है कि निर्विकल्पदशाको विकल्पगम्य करके उसे लेखबद्ध करना ज्ञानीकी विशिष्ट सामर्थ्यका ही द्योतक होता है । निम्नांकित उद्धृत पत्रांश श्री सोगानीजीकी उक्त क्षमताका प्रमाण है :

☐ ''अहो ! बिना विकल्पका कोरा आनंद ही आनंद ! त्रिकाली

गुब्बारेको पूर्ण फुलाये बिना (– विकसित किये बिना) अब एक क्षण भी चैन नही है ! ध्यानस्थ अवस्थामे बैठा हुआ, अथाह ज्ञानसमुद्र व उसमे सहज केलि ! ऐसा अनुभव मानो 'मै ही मै हूँ', आनंदकी घूँटे पिये जा रहा हूँ – अरे रे ! वृत्ति आनंदसे च्युत होने लगी । पर वाह रे पुरुषार्थ ! तूने साथ रही उग्रताका संकल्प किया, मानो अथाहकी थाह, सदैवके लिए एकबारमे ही पूरी ले लेगा । प्रदेश-प्रदेश व्यक्त कर देगा । सहज आनंदसे एक क्षण भी नही हटने देगा । पर अरे योग्यता ! तूने पूर्णताके संकल्पका साथ नही देकर अन्तमे च्युत करा ही तो दिया, तो फिर इसका दण्ड भी भुगतना पड़ेगा ।"

– (पत्रांक · १४; कलकत्ता / १-२-५४)

✿ अनूठी कथन-पद्धति :

यद्यपि त्रिकालवर्ती सर्व ज्ञानियोकी तत्त्वप्ररूपणामे कही मतान्तर संभवित नही है, क्योकि ज्ञानी पदार्थ-दर्शनपूर्वक सिद्धांत निरूपित करते है; अतः सभीमे तत्त्व अविरोधरूपसे अक्षुण्ण रहता है । सभी आचार्यदेवोके वचनोके आलोडनसे यह सुप्रतीत होता है कि सूत्र बदलते है पर कही सिद्धांत नही बदलते । तथापि सर्व ज्ञानियोकी कथन-शैलीमे साम्य नही दिखता क्योकि प्रत्येककी शैलीमे अपनी मौलिकता वर्तती है ।

वास्तविक स्थिति तो ऐसी है कि "त्रिकाली अस्तित्वमयी स्व, इस आश्रित परिणमी हुई आंशिक शुद्धवृत्ति व देवादिक प्रत्येकी आंशिक बाह्यवृत्ति – तीनो अंशोका एक ही समय धर्मीको अनुभव होता है ।"– ऐसे निर्बाध ज्ञानसे विशिष्ट आत्माको (–सम्यग्ज्ञानीको) प्रमाण कहते है । तथापि ज्ञानी धर्मात्मा विवक्षित विवक्षा हेतु कभी द्रव्यार्थिकनय व कभी पर्यायार्थिकनयकी मुख्यता-गौणताकी कथन-शैलीमे विषय प्रतिपादित करते है; तो भी सिद्धांत तो त्रिकाल अबाधित ही रहते है ।

श्री सोगानीजीकी द्रव्यदृष्टिकी प्रधानतावाली शैली रही है; जो अनादि कालसे पर्यायमूढतावश अति जटिल व विकट पर्यायबुद्धिरूपी नाग-पाशके

कड़े बंधनमे जकड़े हुए जीवको छुड़ाने हेतु परम उपकारभूत है।

यद्यपि उनकी वाणी अति शांत व मृदु थी फिर भी श्रोताको ऐसा संवेग आ जाता कि मानो तीव्र पुरुषार्थसे अभी छलांग लगाकर आत्मा आत्मामे स्थिर हो जाए ! इसी भाँति उनकी वाणीमे कोई ऐसा अद्भुत ज़ोर था कि जिसके स्पर्श होते ही पात्र जीवका अनादिसे सुषुप्त पड़ा आत्मा एकदमसे खड़ा हो जाए !

श्री सोगानीजीकी अन्य विशेषता यह भी थी कि "ज्ञानभण्डार आत्मामेसे ज्ञान उघड़ता रहता है, शास्त्रसे नहीं" – इस सिद्धांत वाक्यके वाच्यसे, वे स्वानुभूत ज्ञानके प्रकाशमे ही सभी जिज्ञासाओ और प्रश्नोंका समाधान देते थे। इसी कारणसे प्रायः उनके पत्रो या प्रश्नोत्तर-चर्चामे, शास्त्राधारके वजाय स्वानुभूत ज्ञानाधार मुख्यरूपसे प्रतिविवित होता है। और वस्तुस्थिति भी यही है कि आगमादि सभी प्रमाणोमे अनुभवप्रमाणको ही सर्वत्र सर्वोत्कृष्ट मान्य किया गया है। श्री सोगानीजीकी उक्त विशिष्टताका उदाहरण प्रस्तुत है :-

एकवार श्री सोगानीजीके साथ चल रही तत्त्व-चर्चामे एक मुमुक्षुने यह प्रश्न किया कि 'पर्यायका क्षेत्र भिन्न है या अभिन्न '? इसका उत्तर उन्होने यो दिया कि : 'दृष्टिका विषयभूत पदार्थ, पर्यायसे –क्षेत्रसे भी भिन्न है।' – ऐसे उत्तरमे उपादेयभूत परमपारिणामिकभावकी उपादेयताकी ठोस ध्वनि सन्निहित है।

वही जब दूसरे मुमुक्षुने प्रश्न किया कि 'अशुद्ध पर्यायका उत्पाद कहॉसे हुआ और वह पर्याय व्यय होकर कहॉ गई ?' इसका उत्तर उन्होने यथार्थ पदार्थ-दर्शनसे परिणमित सम्यग्ज्ञानकी भूमिकामे देखते हुए यो दिया कि : 'पदार्थकी तीनो कालकी पर्यायें पानीकी तरंगवत् अपने आपमेसे उद्भव होती हैं और अपने आपमे विलीन होती है।'

✿ जिनवाणी-प्रेम :

श्री सोगानीजी अपने आत्म-अन्वेषणकी अवधिमे बहुधा धर्मग्रन्थोंके

अध्ययनमे खोये रहते थे। तदर्थ वे नई-नई किताबे ख़रीदते रहे, जिससे इनका संग्रह बड़ा होता गया। उनके अध्ययनकक्षमें सत्साहित्यका विपुल भण्डार था। यद्यपि तत्त्वज्ञानके आत्मसात् हो जानेके पश्चात् उनका पढ़नेके प्रतिका झुकाव क्षीण होता गया था; तथापि पू. गुरुदेवश्रीके प्रवचनोके प्रकाशन आदि तो उनके पास नियमित आते रहते थे। इस प्रकार निरन्तर वृद्धिगत होते सत्साहित्यके लिए किरायेके छोटे-से घरमे जगह बनानेमे उनकी धर्मपत्नीको बड़ी असुविधा होती थी। तथापि ऐसे संयोगोंमें वे अत्यंत भावुक होकर कहतेः 'यही तो मेरी पूँजी है। बच्चोके लिए यही तो विरासतमें छोड़कर जाऊँगा।"..."आचार्योके इन्ही शास्त्रोसे तो आनंदरस बूँद-बूँद कर टपकता है।"

प्रत्यक्ष सत्श्रुतयोगमे उनके नेत्र पूज्य गुरुदेवश्रीके मुखमण्डल पर ही टिके रहते और वे श्रीगुरुके श्रीमुखसे निर्झरित तत्त्वामृतको स्थिर उपयोगसे इतनी एकाग्रतासे अवधारते रहते कि उनके अगल-बगलमें कौन बैठा हुआ है उसका उन्हे भान तक नही रहता था।

✿ प्रचण्ड पुरुषार्थका अवसर :

सन् १९६१ का वर्ष श्री सोगानीजीके लिए सर्वाधिक हादसो भरा रहा। इसी वर्ष उनके पिताश्रीका देहांत हो गया; और उसीको चंद महिनों बाद उनके चाचाश्री हेमचंद्रजी, जिनका उनकी शिक्षा-दीक्षामे विशेष रुचि व योग रहा था, का भी देहावसान हो गया; और इसी वर्षमें उन्हे क्रूर नियतिका एक और झटका लगा जिससे उनके शरीर छूटने जैसा योग हो गया था। लेकिन धर्मात्माओके लिए तो ऐसे प्रसंग महोत्सव स्वरूप होते है।

श्री सोगानीजी एक दिन शामको घर लौट रहे थे। उनके हाथमे एक बैग था। उसमें रुपये होनेके भ्रमसे कुछ असामाजिक तत्त्वोने उनके पेटमें ९ इंच लम्बा छुरा भोंक दिया। वे वही गिर पड़े। अत्यधिक रक्तस्रावसे उनकी स्थिति गम्भीर और विशेष चिंताजनक हो गयी। अस्पतालमे डॉक्टरोको

आसानीसे उनकी नब्ज़ (Pulse) हाथ नही आ रही थी। तत्काल शल्यक्रिया करनी पड़ी। यद्यपि शल्यक्रिया सफल रही तथापि कुशल डॉक्टरोंकी कई सप्ताहोकी यथोचित सार-सँभालसे उन्हे स्वास्थ्य लाभ संभव हो सका। परन्तु उनके परिणामोंमें किसी प्रकारकी विह्वलता या आकुलताकी गंध तक नही दिखलाई देती थी। उनके परिणाम पूर्ववत् ही अत्यन्त सहज, स्वस्थ व शांत रहे। मानो उन्हें सर्वांग समाधान वर्तता हो और आत्मप्रत्ययी सहज पुरुषार्थ ऐसे विकट क्षणोमे अत्यन्त वर्द्धमान हुआ हो परिणामतः पूर्व निबंधित शेष कर्मराशिने अपनी पराजय अंगीकार कर, उस बे-जोड़ पुरुषार्थीके लिए शीघ्र मोक्षगमनका मार्ग प्रशस्त कर दिया हो।

उक्त घटनाने श्री सोगानीजीको विशेषरूपसे आत्मकेन्द्री बना दिया। अब तो वे यथाशीघ्र दायित्व बंधनसे विमुक्त होकर पूर्णतः मोक्षसाधनामें लीन हो जाना चाहते थे। उनकी ऐसी पूर्व भावित भावना अब विशेष बलवती हो गई। जिनधर्मके सत्स्वरूपके सम्बन्धमे उनका अनुभवज्ञान गहनसे गहनतर होता गया। सहजानंदसे बाहर झाँकना अब उनके लिए अग्निदाह-सा दुःखद हो गया। यात्राके अंतिम पड़ाव पर आत्मशांतिकी छाया उनके आसपास घनिभूत होने लगी।

प्रतिक्षण वर्द्धमान होती उनकी आत्मपरिणतिको अब अनात्मभाव अत्यन्त बोझरूप लगते। वे भौतिक संसारकी उस सीमा तक पहुँच चुके थे जहाँसे उसपार छलांग लगाना संभव हो जाता है। अंतर चेतनाके सारे कक्ष यथोचित खुल चुके थे। मोक्षके महा द्वार पर दस्तक पड़ रही थी। देश-कालकी सीमाएँ टूटने लगी और वे पल, प्रति पल निर्वाणपथकी ओर अग्रसर होते रहे। किंतु यह सब उनके भीतर घट रहा था। बाहरकी दिनचर्यामे कोई व्यतिक्रम नही था। पर्यायका कार्य पर्याय द्वारा सम्पादित हो रहा था।

✿ मुक्तिदाताके अन्तिम दर्शन :

श्री सोगानीजी मानो अपने नश्वरशरीरसे बंधनमुक्ति पूर्व अपने मुक्ति

नियंता, मुक्तिनाथ, निष्कारण करुणा सागरके प्रति साक्षात् श्रद्धा-सुमन समर्पित करने और उनकी पवित्र चरणरजको अंतिम बार अपने मस्तकपर चढ़ानेके अभीष्टवश, मई १९६४ में 'दादर' में समायोजित पू. गुरुदेवश्रीकी मंगलकारी ७५वी जन्म जयंतीके प्रसंग पर सपरिवार बम्बई पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपने मुक्तिदाताके अन्तिम दर्शन किए और श्रीगुरुके परम उपकारके प्रति कोटि-कोटि आभार स्वीकारते हुये, भावाँजलि समर्पित की। और वहाँसे लौटनेमे वे अपनी धर्मपत्नीको अजमेर छोड़ते हुए, छ जून १९६४ को कलकत्ता आ गये। उस दिन वे अत्यन्त शांत और प्रकृतिस्थ दिखाई दिये, स्वस्थ और प्रसन्न।

✿ चिर विदाई :

दूसरे दिन ७ जून १९६४ को श्री सोगानीजीको वातावरणमे अस्वाभाविक गर्मी और घुटनका अनुभव हुआ। उन्होने अपना पलंग सरका कर पंखेके नीचे करवा लिया। उनके सीनेमे हलका-हलका दर्द होता रहा परन्तु उन्होने उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। सारे दिनका उपवास। 'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथ जो पिछले वर्षोमें उनके लिए धार्मिक स्वाध्यायका आधारभूत रहा था — का परायण। आत्मघोलन व शांतमुद्रा। संध्याको ५ बजे वेदनाका कुछ अधिक भान हुआ; फिर भी स्नान किया; मानो संसारसे प्रस्थानपूर्व जड़ शरीरकी शुद्धि कर लेनेका उपक्रम हो। संयोगवश उस समय घरमें केवल उनकी कनिष्ठ पुत्री कुमुदलता ही थी। पुण्यात्माको शरीर तो एक व्यर्थ बोझा-सा ही लगता था। कालका मानों सदैव स्वागत था। वस्तुतः पुण्यात्माके लिए तो मृत्यु एक बड़ा भारी महोत्सव-सा होता है। शांत शरीर बिस्तर पर पड़ा रहा और वे अपने स्वमे लीन हो चुके थे। परम पुण्यात्माको ऐसा योग बना कि अकस्मात् हृदयगतिने रुद्ध होकर आत्मार्थीके लिए, शरीरके इस व्यर्थ बोझसे मुक्त कर, वास्तविक मार्ग प्रशस्त कर दिया। डॉक्टर आया, पर उसके लिए करने जैसा कुछ नही रहा।

बिजलीकी तरह यह ख़बर चारो ओर फैल गई। किसीने कल्पना भी नही की थी कि इस प्रकार हटात दीप निर्वाण हो जाएगा। श्रद्धापूर्वक उनके पार्थिव शरीरको चन्दन-कपूर युक्त चिताकी भेट कर दिया गया। पीछे छूट गया पुण्यात्माका यशः शरीर।

✿ श्रीगुरुके उद्‌गार :

पूज्य सद्‌गुरुदेवश्री कहानजी स्वामीके पास जब श्री सोगानीजीके आकस्मिक निधनकी ख़बर पहुँची तो उन्होने वैराग्यपूर्ण सहज भावसे अपने उद्‌गार प्रकट करते हुये कहा : "अरे ! आत्मार्थीनें मनुष्य जन्म सफल कर लिया है। स्वर्गमे गये है और निकट भवी है।"

अनेक आत्मार्थियोके जिज्ञासा भरे प्रश्न पत्र श्री सोगानीजीके पास आते थे; तादृश सोनगढ़ तथा वम्वईके प्रवासमे अनेक मुमुक्षुओके साथ तत्त्वचर्चा होती थी; उन सवका वे यथोचित समाधान देते। इनमेसे विशेष कर सन् १९६२-१९६३मे हुई तत्त्वचर्चाको अनेक मुमुक्षुओने लिख लिया था। सद्‌भाग्यसे वह (उक्त) सामग्री उन मुमुक्षुओके पास सुरक्षित थी; जिसे पुस्तकाकाररूपमे प्रकाशित करने हेतु पू. गुरुदेवश्रीकी स्वीकृति मिल जाने पर, उस सामग्रीको संकलित-संपादित करके "द्रव्यदृष्टि-प्रकाश" शीर्षकसे ग्रंथारूढ किया गया। जव इस ग्रंथकी छपाईका कार्य पूरा हो गया तो उसकी प्रति पू. गुरुदेवश्रीको देते हुए इस ग्रंथ हेतु आशीर्वाद स्वरूप उनके स्वहस्ताक्षरोकी टिप्पणीकी याचना की तो उन्होने ग्रंथके सतही अवलोकनपरसे लिखा कि : "भाई न्यालचंद सोगानी आत्माना संस्कार सारा लईने देह छुट्यो छे"।

परंतु इस ग्रंथके तलस्पर्शी अध्ययनसे श्री सोगानीजीके 'अक्षरदेह' परसे पू. गुरुदेवश्रीको स्वर्गस्थ आत्माकी यथार्थ, उच्च, शुद्ध अंतर्दशाकी सुप्रतीति हो गई। और तदुपरांत तो वे अपने प्रवचनोमें वारंवार श्री सोगानीजीकी आध्यात्मिक उपलब्धियो, उनके असाधारण पुरुषार्थ व मार्मिक शैलीकी मुक्तकंठसे सराहना करते रहे। कभी कभी तो वे भावविभोर होकर

यहाँ तक कहते कि :

“श्री सोगानी वैमानिक देवमें गये हैं, वहाँसे निकलकर मनुष्यभव प्राप्त कर झपट करेंगे; और वे मेरे पहले मुक्तिमें जायेंगे । और जब मै तीर्थंकरभवमे (– चौथे भवमें) मुनिदीक्षाके समय सर्व सिद्धोंको नमस्कार करुँगा तब मेरा नमस्कार उन्हे भी प्राप्त होगा ।”

धन्य धन्य हैं ऐसे गुरु !! धन्य हैं ऐसे शिष्य !

वस्तुतः श्री निहालचन्द्रजी सोगानीकी जीवनगाथा साधनासे सिद्धि तक छलांग लगानेका वृत्त है । कर्मयोग और अध्यात्मयोगकी संभवित साधनाका यह एक अनुपम उदाहरण है । जीवनयात्रा यदि बाह्य जगत्प्रति हो तो उसको समझना और रेखांकित करना आसान है किंतु वे तो अंतर्जगत्के यात्री थे । उनकी उपलब्धियोंका यथार्थ मूल्यांकन, उस दशाको संप्राप्त अथवा उस दशासंप्राप्तिमें संलग्न जीव ही कर सकता है, अन्य नही ।

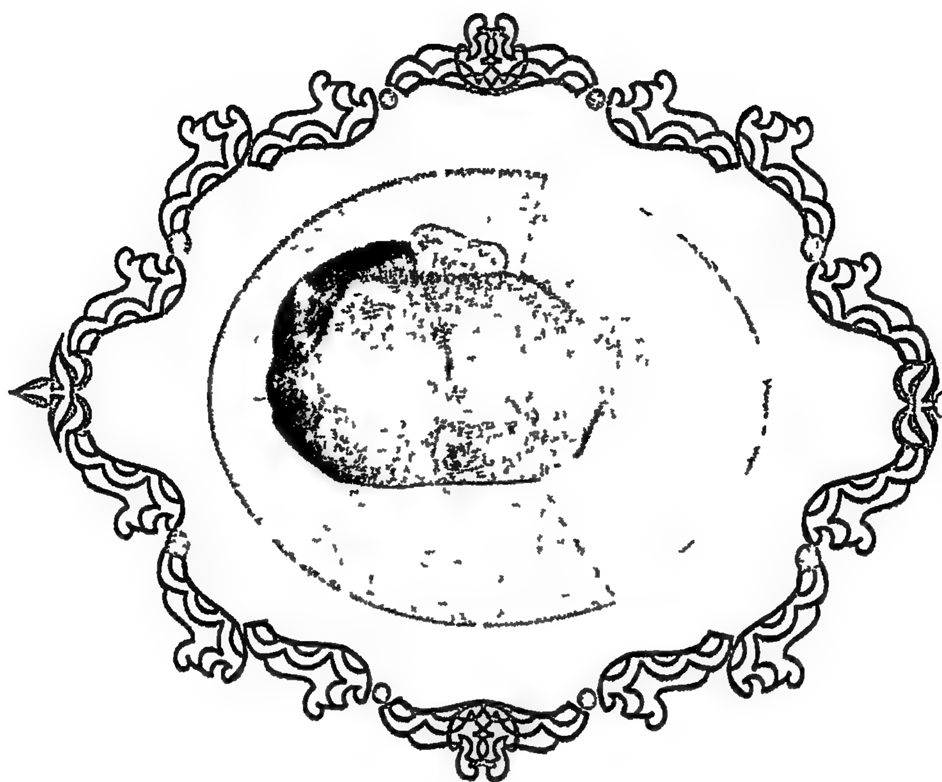
प्रस्तुत ग्रंथमें संकलित अनेको गम्भीर आध्यात्मिक पत्र व सैकड़ो प्रश्नोत्तर, जिनधर्मके सम्बन्धमे श्री सोगानीजीके तलस्पर्शी व अनुभवमयी ज्ञानके प्रमाण है । उनके श्रीमुखसे व समर्थ लेखनीसे सत् दर्शन और मोक्षमार्गके सम्बन्धमें प्रकट होनेवाली सचोट वाणी ही उनकी थाती है । पुस्तकके रूपमे प्रकाशित उनकी प्रज्ञाका यह प्रकाश-स्तम्भ भावी पीढ़ीका मार्गदर्शन करता रहेगा, ऐसा विश्वास है ।

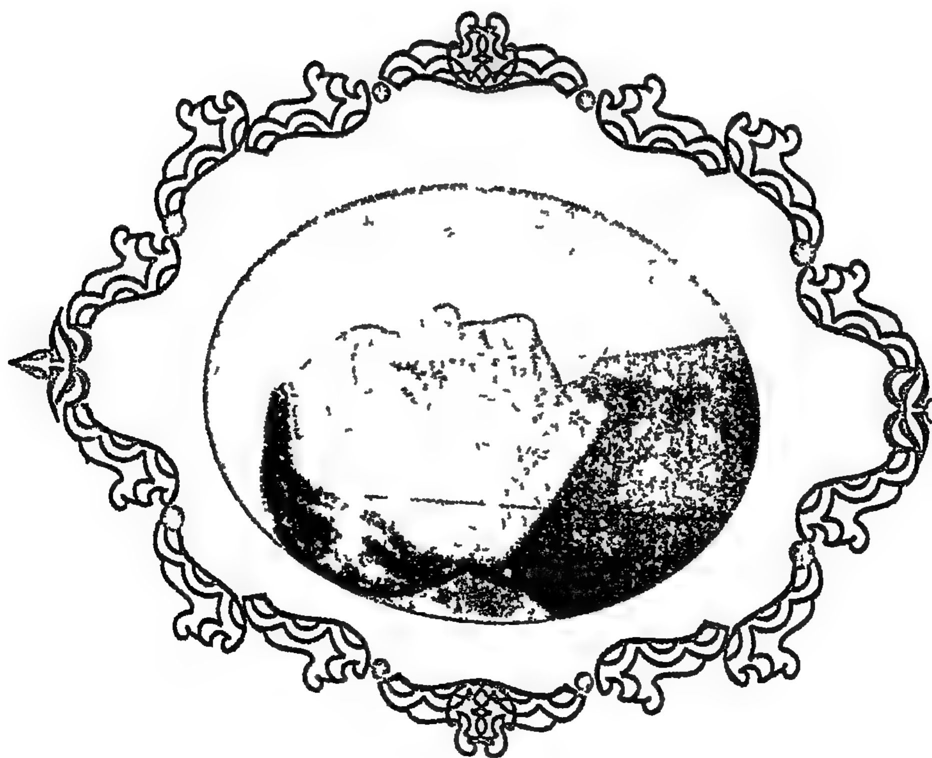
सत्पुरुषोंका प्रत्यक्ष योग जयवंत वर्तो !

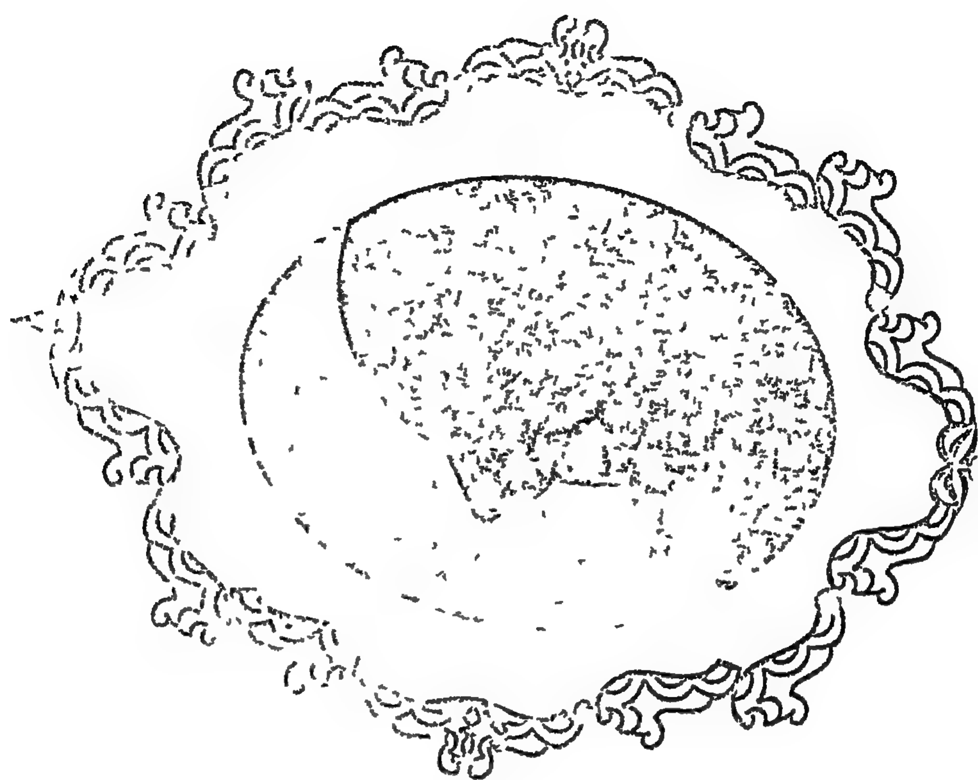
– त्रिकाल जयवंत वर्तो !

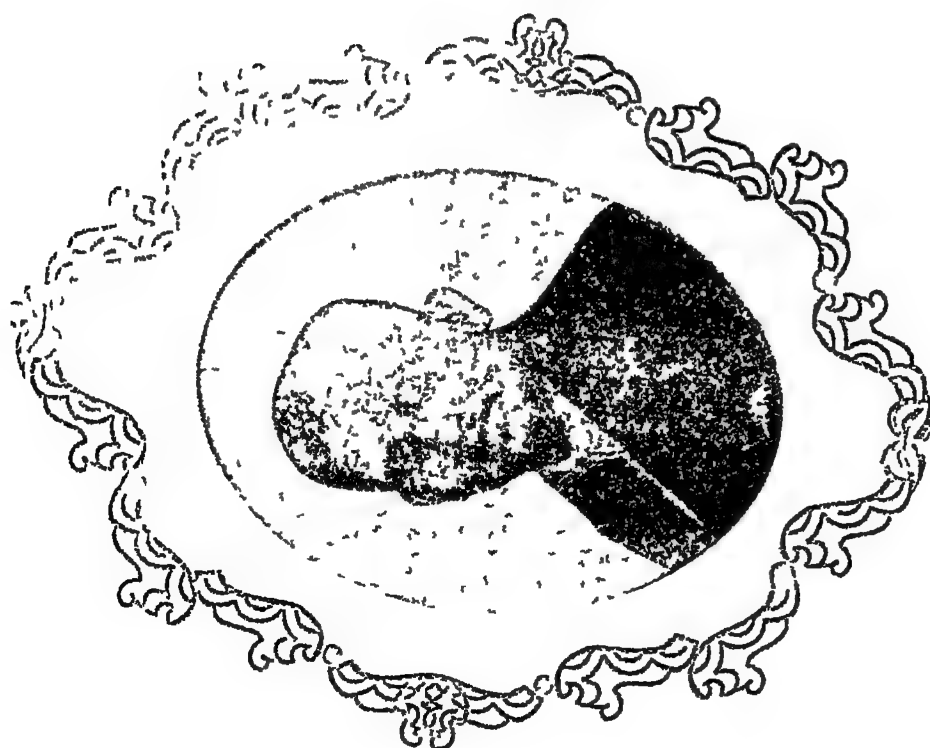
– संकलन व सम्पादन :
शशीकांत म. शेठ

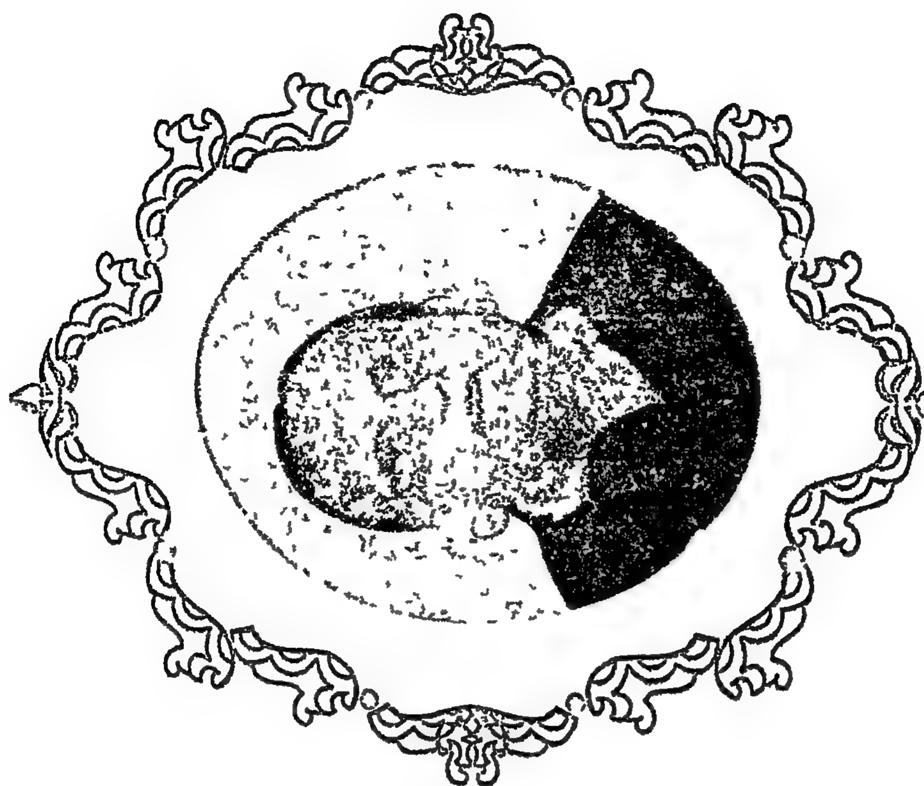
भावनगर
दिनांक ८-८-१९९०

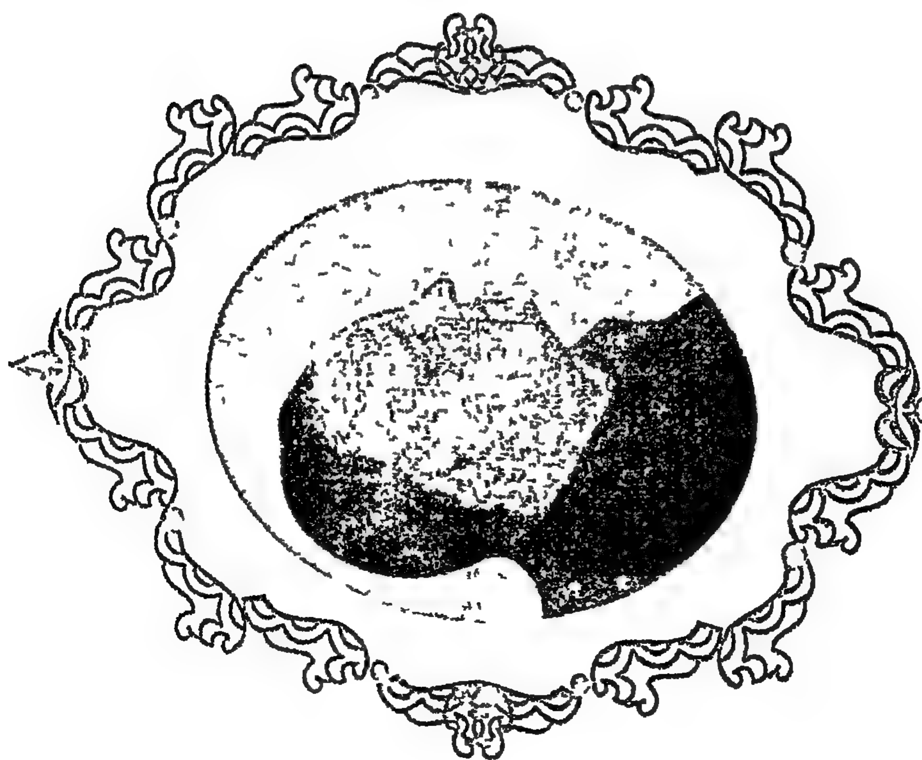


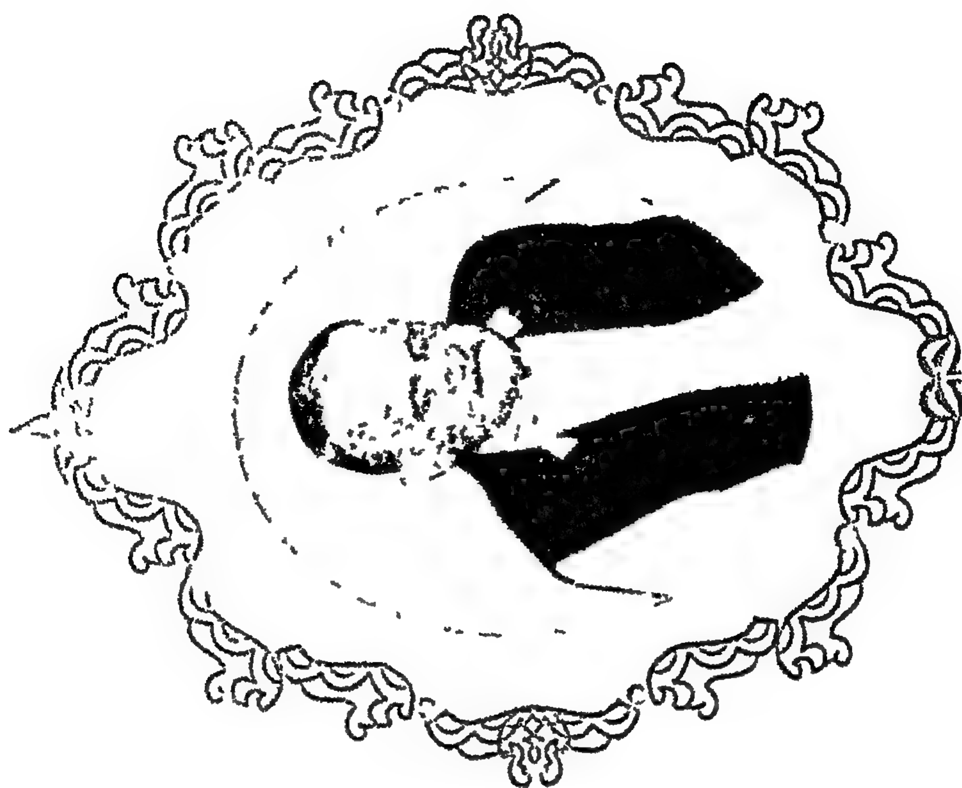


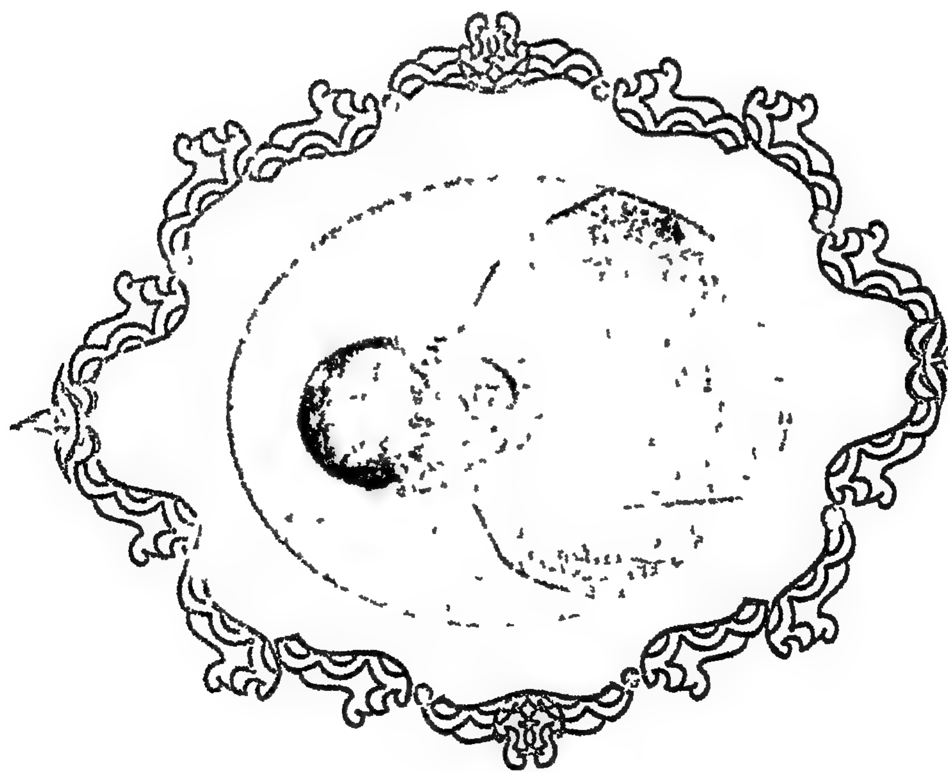












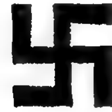


श्री परमात्मने नम.

द्रव्यदृष्टि-प्रकाश

[प्रथम खण्ड]

आध्यात्मिक पत्र



परम अद्भुत, जीवन उध्धारक, जन्म–मरणरूपी रोगसे रहित करनेवाले, योगिराज श्री कहानगुरुदेवकी तीक्ष्ण द्रव्यदृष्टिके अजोड प्रकाशक श्री निहालचन्द सोगानीजीके

द्वारा

साधर्मियोके प्रति

लिखे गये पत्र



सतत दृष्टि धारा बरसाने, आनंद चैतन्य के संदेशे र सहज
महान दीपोत्सव की इनके स्वरूपदेवता श्री गुरुदेवको आनंदमान नाथ
नमस्कार

निहालचन्द्र—

[१]

अजमेर
२२-३-१९४९

आत्मार्थी प्रत्ये निहालचन्द्रका धर्मस्नेह ।

कार्ड आपका मिला, प्रतिष्ठा व विहार आदिके समाचार ज्ञात हुए ।

जबसे आपका कार्ड आया है तबसे रोज कुछ जवाब लिखना है, ऐसा विकल्प होता है, परन्तु लेखनी नही बढ़ती, कारण क्या लिखूँ ऐसा कोई सहज विषय स्मरण नही होता ।...

"मै त्रिकाली सहज ज्ञानस्वभावी ध्रुव पदार्थ हूँ व प्रतिक्षण ज्ञानरूप परिणमन मेरा सहज स्वभाव है; जड़ आश्रित परिणाम जड़के है ।" — पूज्य गुरुदेवके इस सिद्धान्तकी घूँटीने क्षणिक परिणामकी ओरके वलणके रसको फीका कर दिया है व सहज स्वके सिंवाय कोई कार्यमे रस नही आता है, अतः जवाब आदि नही पहुँचनेमे व विलम्ब आदिके होनेमे मेरी ओरका ख़याल न करना ।

उत्कृष्ट शुभ-दृष्टिकी अपेक्षा आपको महाराजश्रीके व्याख्यानोकी अनुकूलता है, परन्तु यहाँ तो अशुभ प्रतिकूलताएँ बहुत है । फिर भी "मुझे विश्वमे कोई भी पदार्थ अनुकूल है ना प्रतिकूल है" — इस सिद्धान्तको लेकर मै प्रतिकूलताओको भी अनुकूल ही समझता हूँ । कारण ऐसी अवस्थामे परिणाम केवल स्वसामर्थ्यका ही आश्रय लेते रहे, यही एक प्रयोजन रहता है व पर तरफ़ अधिक नही अटक पाते'।...

आत्मस्वास्थ्यमे उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहे, यही अभिलाषा है; जो कि (यद्यपि) आत्मा तो अभी ही पूर्ण स्वस्थ्य और अभिलाषारहित है, परन्तु अपूर्ण परिणमनकी अपेक्षा ऐसा लिखा है ।

आपका
निहालचन्द्र



● *पदार्थका सहज स्वभाव अविकृत होता है ।*

— पूज्य गुरुदेव

[२]

अजमेर

२९-९-१९४९

आत्मार्थी प्रत्ये निहालचन्द्रका धर्मस्नेह ।

अभी अभी आपका कार्ड मिला ।...मै परिस्थितिवश दिवालीके पहेले वहाँ नही आ सकता । दीवालीके दूसरे या तीसरे दिवस वहाँ आऊँगा ।...

वहाँ 'सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार' पर व्याख्यान होता है; मैने पहले भी ऐसे समय पर वहाँ उपस्थित होना सोचा था; परन्तु अभी भी नही आ सकता, यह पुण्यकी कमी है । साथ ही गुरुदेवश्रीके गुरुमन्त्रका उपयोग करते रहनेसे अर्थात् अखण्ड ज्ञानस्वभावका आश्रय लेते रहनेसे, जैसे-जेसे पुण्यविकल्प सहज ही टूटते जाते है वैसे-वैसे आत्मामे सर्व विशुद्धि सहज ही विकसित होती जाती है, अतः परम सन्तोष भी है ।

कलकत्ता व हिसार आदिसे पंडितगण व मुमुक्षुजन वहाँ आ रहे है, यह उनके पुण्यका उदय समझो; और यदि उन्होने वहाँ यथार्थ दृष्टि करली तो उनके परम पुण्यका उदय समझो । निमित्त-नैमित्तिक ज्ञानका सम्बन्ध बताता है कि जहाँ तीर्थंकरकी तैयारी होती है वहाँ गणधरसे लेकर केवलियो तक की भी कमी नही रहती । समुदाय का समुदाय ही केवलज्ञानकी तैयारीके सन्मुख बढ़ता ही जायेगा, ऐसी दृढ़ प्रतीति होती जाती हैं ।

अजमेरका वातावरण अभी शुभोपयोगी मिथ्यादृष्टियोसे भरा हुआ है । कभी-कभी गुरुदेवकी ठोस, निःशंक, निःस्वार्थ व स्वआश्रित वाणीका असर फैलता है; फिर पूर्व आग्रहोके कारण दब जाता है; अन्तमें पात्र होंगे वे ठिकाने आजायेगे ।

प्रतिमाजी परसे कीकी (आँख) का चिह्न निकाल लिया गया यह बहुत ही अच्छा हुआ, ऊपरी-बाह्य दृष्टिवालोके यह एक बाधक कारण होता था ।

पूज्य गुरुदेवको अत्यन्त भक्तिपूर्वक प्रणाम व ओर मुमुक्षु भाईयोंको यथायोग्य ।



[३]

अजमेर
३-७-१९५०

आत्मार्थी .प्रत्ये निहालचन्द्रका धर्मस्नेह ।

आपका कार्ड प्राप्त हुआ । आरम्भमे ही सर्वत्र उपादेय, यथोचित विशेषणो द्वारा स्तुत्य गाढ़ आत्मसंवेदनरूपी आपका नमस्कार पढ़कर व आत्मस्वास्थ्यमे निरन्तर वृद्धिकी भावना देखकर चित्त अत्यन्त प्रसन्न हुआ ।

पूज्य गुरुदेवश्रीका मुमुक्षुगण सहित राजकोटके विहार कार्यका सुन्दर धर्मप्रभावनापूर्वक पूर्ण होना जान कर इस बातकी प्रतीति होती है मानो नायक सहित सर्व संघका निश्चय प्रभावनारूपी कार्य भी शीघ्र व निर्विघ्न रीतिसे पूर्ण होनेवाला है । आपश्रीका निश्चित स्थान, सोनगढ़का आगमन इस बातका द्योतक होता है मानो हम सबकी परिणतिका त्रिलोकरूपी राजकोटका विहाररूपी भ्रमण समाप्त होकर निश्चित अविनाशी स्व स्थान — अमृतमयी चैतन्यलोक आत्मगढमे आगमन हो रहा है, जहाँ कि सहज आनन्दसे तरंगित सहज आत्मरमणरूपी विहार सादि अनन्तकाल तक स्वाभाविक ही होता रहेगा ।

पूर्व उदयके योगसे मै आप जैसे पुण्यशालियोकी तरह श्रीगुरुदेवके समीप रहकर उनके संगका, उनके वचनामृतका निरन्तरलाभ नही ले सक रहा हूँ, इसका मुझे महान्-महान् खेद होता है । साथ ही उनके बोध द्वारा बोधित मुझे यह सन्तोष भी होता है कि निश्चयसे सत्गुरुदेव मुझसे दूर नही है — जहाँ मै हूँ वहाँ ही मेरे गुरु है, अतः मै मुझमे मेरे गुरुदेवको देखनेका सतत प्रयत्न करता रहता हूँ और जब-जब गाढ़ दर्शन होता है तब-तब अपूर्व-अपूर्व रसास्वादका लाभ लेता रहता हूँ, मानसिक विकल्परूपी भारसे हलका होता रहता हूँ, सहज ज्ञानघन स्वभावमे वृद्धि पाता रहता हूँ । सोनगढ़की चिन्मय, भव्य, दिव्यमूर्तिको अधिक समीप होकर गहन दृष्टिसे देखता रहता हूँ ।

आशा करता हूँ कि जुलाई माहके अन्त तक लगभग एक माहके

लिये वहाँ रहनेको आ सकूँगा। आशा है वहाँ सर्व कुशल होगे। आपका वहाँका पत्र कभी-कभी आनेसे एक प्रकारका सम्बन्ध वहाँका बने रहनेका सौभाग्य मुझे प्राप्त है, यह मेरे पुण्यका योग है, ऐसा मानता हूँ। यहाँ योग्य कार्य लिखे।

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र सोगानी



[४]

कलकत्ता
२१-६-१९५२

आत्मार्थी प्रत्ये निहालचन्द्रका धर्मस्नेह।

आपका कार्ड अजमेरसे लौटकर यहाँ आया, कारण मै अधिकतर आजकल यहाँ ही रहता हूँ। योग कुछ ऐसा ही है कि आर्थिक सम्बन्धकी अपेक्षा प्रत्यक्ष तौर पर मेरा धार्मिक संग इस समय दूर-सा हो रहा है और मै बहुत समयसे सोनगढ़ नही आ सक रहा हूँ। यह कहना व्यर्थ है कि अन्तरंगमे, यहाँ होते हुए भी मुझे वहाँ की स्मृतियाँ, ऐसा कोई दिन न होगा कि नही आती रहती होवे। पूज्य गुरुदेवकी स्मृति इस समय भी आ रही है व आँखोमे गर्म आँसू आ रहे है कि उनके संग रहना नहीं हो रहा है। उनका असंगरुचिका उपदेश (अथवा स्वसंगका) कानोमे गूँजता रहता है और उसकी रमणतासे ही यहाँ की उपाधियाँ ढीली-सी रहती है। उस दिनकी प्रतीक्षामे हूँ कि कब उस गरजती हुई दिव्यमूर्तिके चरणोमे शीघ्र अपने आपको पाऊँ।...

आशा करता हूँ कि आपकी परिणति स्वस्थ्य होगी। पूज्य गुरुदेवके चरणोमे मेरा सादर भक्तिपूर्वक नमस्कार और सब भाइयोसे धर्मस्नेह।...

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र सोगानी



[५]

कलकत्ता
२८-१०-१९५२

आत्मार्थी प्रत्ये निहालचन्द्रका धर्म स्नेह ।

.. कुछ ऐसा योग है कि अभी तक मेरा उधर आना होता ही नही है । सहज परम निवृत्तिमय कारणपरमात्माका आश्रय पूज्य गुरुदेवने ऐसा बतला दिया है कि उसके अवलम्बनसे सहज परम अनाकुलता उत्पन्न होती रहती है; कही आने-जाने आदिके समस्त विकल्पों रहित अनादि-अनन्त स्वमे ही स्थिर हूँ तो कहाँ आना व कहाँ जाना; फिर भी वहाँ न आनेका खेद वर्तता रहता है ।

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र



[६]

अजमेर
१८-४-१९५३

आत्मार्थी धर्मस्नेह ।

मै यहाँ कल आ पहुँचा था ।...स्वकुटुम्बियोसे भी अधिक वात्सल्ययुक्त आपका व्यवहार प्राप्त होनेसे इस समयकी मेरी सोनगढ़ यात्रा अपूर्व रही । महोत्सवके आरम्भसे अन्त तकके वहाँके सुखदायी दृश्य अब तक स्मृति पर दौड़ते रहते है ।

गुरुदेवके निकट रहनेसे पर्यायस्वभाव उग्रतर रहा करता था व सोनगढ़ स्थान व वहाँके मुमुक्षुओकी उपेक्षा-सी हो जाया करती थी, परन्तु अब तो वहाँकी धूलके लिये भी तड़पना पड़ता है । गुरुदेवके दृष्टान्त अनुसार भभकती भट्टीमे गिरनेका-सा प्रत्यक्ष अनुभव यहाँ एक दिनमे ही मालूम होने लग गया है । धन्य है वहाँके सर्व मुमुक्षु, जिनको सत्पुरुषका निरन्तर संयोग प्राप्त है ।...

सब सहजानन्दकी रमणतामे प्रचुर मस्त रहे, यह ही आकांक्षा है ।

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र



[७]

कलकत्ता
१८-५-१९५३

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

तीव्र धर्मानुरागी

धर्मस्नेहीका पत्र दूरसे देखते ही चित्त प्रसन्न हो उठता है। आपका कार्ड पढ़ा।

धन्य है गुरुदेव, उनका जन्मदिवस व जयन्तीका प्रत्यक्ष लाभ लेनेवाला पुण्यशालियोका समूह !

जिनके दर्शन मात्रसे तीव्र मुमुक्षु कृतकृत्य हो जाते है, ऐसे गुरुदेवके जन्मदिवस बारम्बार उजवाते रहे, यह ही भावना है।

एक युगसे आपकी निरन्तर पूज्य परमोपकारी गुरुदेवके प्रति भक्ति व तत्त्वकी तीव्र जिज्ञासा भरा हृदय, हृदयमे पूर्ण अंकित है। प्रारब्धने अबके वहाँके सहवासका ऐसा संयोग कराया कि वहाँकी अनुपस्थितिमे, मनोयोग, वहाँके लक्ष आश्रित, मौनपणे, प्रतिकूल परिस्थितियोमे भी, आत्मकथा करता रहे। मानो भावी अपूर्व विकल्पोके लिये एक नये निमित्तका जन्म हुआ।

यहाँ संग, असत्संगका है, उदय नीरस है। वहाँका योग निकट भविष्यमे होनेके आसार दिखाई नही देते, अतः अत्यन्त उदासीनता है व व्यवहारमे तो बेभान-सी दशा हो जाया करती है।

सत्गुरु द्वारा प्राप्त अनुभव ऐसे कालमे विषमता आदिको समतापने वेदे व अप्रतिबद्ध स्वभावसन्मुख तीव्र वेग करे, यह ही सबसे श्रेष्ठ है व शीघ्र मनोरथ पूर्ण होनेका यह ही शुभ लक्षण है।

बन्ध रुचिवाला सर्व क्षेत्र-कालादिकमे बन्धरूप ही रहता है, अबन्ध रुचिवाला सर्व क्षेत्र-कालादिकमे अबन्धरूप ही रहता है, यह नियम है।

"देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति, तत्र तत्र समाधय ॥"

[– 'श्रीमद् (राजचद्र)'से उद्धृत]

तीव्र ताप बरसात इच्छती है व बादल जलरूप परिणम जाते है — ऐसे घनिष्ट सम्बन्ध (निमित्त-नैमित्तिक) जगतमे है; परन्तु इनके अस्थिर स्वभावको जानकर ज्ञानी इन्हे नही इच्छते; निमित्त - नैमित्तिक स्वभावके अभावरूप सहज नित्य निरिच्छक स्वभावको ही इच्छते है और यह ही योग्य भी है।...

सहज ज्ञानामृतरस इच्छुक
निहालचन्द्र



[८]

कलकत्ता
२८-६-१९५३

धर्मप्रेमी निहालचन्द्रका धर्मस्नेह।

कार्ड एक आपका लगभग पन्द्रह दिवस पहले मिला था, मै कार्यवश रांची गया हुआ था अतः जवाबमे विलम्ब हुआ।

आशा है परम कृपालु गुरुदेव सुख-शान्तिमे विराजते होगे व आप लोग निरन्तर उनकी अमृतमयी वाणीका लाभ लेते होगे। यहॉ तो पुण्ययोग ही ऐसा नही है कि वहॉका लाभ शीघ्र-शीघ्र मिला करे। निवृत्तिके लिये जितना अधिक छटपटाता हूॅ उतना ही अधिक इससे दूर-सा रहता हूॅ, ऐसा योग अबके हो रहा है। कई बार तो फूट-फूट कर रोना-सा आ जाता है। शायद ही कोई दिवस ऐसा निकलता है कि बारम्बार वहॉका स्मरण नही आता होवे। किसीने कहा है कि-

"मिलत एक दारुण दु ख देई।
विछुडत एक प्राण हर लेई॥"

सो संयोगोकी अपेक्षा यहॉ तो ऐसे ही ऐसे संगमे रहना पड़ रहा है जहॉ कि दारुण दुःखका अनुभव हुआ करे।

परम कृपालु गुरुदेव कहते है कि ऐसे दुःख-सुख भावोको पूर्णरूपसे, एकाकाररूपसे जीवको नही भोगना चाहिए। सम्यक् एकान्तरूपसे स्वरूपदृष्टिके बलसे सहज ही, अंशे-अंशे, जीव इनसे क्षणे-क्षणे सरकता

रहे, भिन्न पडता रहे व ऐसी दृष्टिका अभ्यास निरन्तर बढ़ता रहे, यह ही भावना है ।...

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र



[९]

कलकत्ता
५-७-१९५३

धर्मप्रेमी से निहालचन्द्रका धर्मस्नेह ।

कार्ड आपका मिला । पूर्व पत्र कुछ चिन्तित दशाके समय लिखा गया था, अतः शायद आपको कुछ ख़याल-सा हुआ दिखता है ।

जिस सामान्य ध्रुवस्वभावमे चिन्ता व अचिन्ता – दोनो ही पर्यायका अभाव है, उसके आश्रय पश्चात् वेचारी अल्प चिन्ताकी स्थिति ही कितनी ?

पूज्य गुरुदेवश्रीकी अनुभवरससे भीगी हुई वाणी वहाँ 'कर्ता - कर्म अधिकार'की वर्षा कर रही है – अहा ! आपकी इस हार्दिक भावनाका मै हृदयसे स्वागत करता हूँ कि मै भी आप सर्वोंके संग इस वर्षामे स्नान करूँ ।

अरे विकल्प ! यदि तुझे तेरी आयु प्रिय है तो अन्य सबको गौण कर व गुरुदेवके संगमे ले चल, वरना उनका दिया हुआ वीतरागी अस्त्र शीघ्र ही तेरा अन्त कर डालेगा ।

स्वसंग, गुरुसंग व मुमुक्षुसंगके अलावा दूसरे संगको नही इच्छते हुए भी, अरे प्रारब्ध ! विषतुल्य संगमे रहना पड़ रहा है, खेद है ।

पूर्ण चेष्टा है, शीघ्र योग मिलते ही वहा आऊँ; परन्तु अभी कोई नज़दीक समय दिखाई नही देता है, फिर भी प्रयत्न पूरा है ।

सबोको यथायोग्य ।

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र



[१०] कालिम्पोग (दार्जिलिग)
२४-८-१९५३

ॐ

"ऐसे मुनिवर देखे वनमे, जाके राग-द्वेष नही मनमे"

आत्मार्थी

मै कलकत्तासे एक माह लगभग हुआ बाहर गया था, परन्तु खेद है सोनगढ़ आनेका सौभाग्य नही हो सका। सेठ वच्छराजजीके साथ 'गया' जाना हुआ था।...

सेठ वच्छराजजी व मोहनलालभाईका सोनगढ़ जल्द जानेका विचार है, परन्तु खेद है मै फिर भी अभी नही आ सकता; दीवालीके पास तक आना हो सकेगा ऐसी आशा है। परसो यहॉसे कलकत्ता जाऊँगा।

वहॉ परम पूज्य श्री सद्गुरुदेव परम सुख-शान्तिमे विराजते होगे; हृदयमे उनको नमन करता हूँ।

"अपनी सुधि भूल आप, आप दु ख उपायो।
ज्यो शुक नभ चाल विसरि, नलिनी लटकायो"॥
"मन वच तन करि शुद्ध भजो 'जिन' दाव भला पाया।
अवसर मिले नही फिर ऐसा, यो सतगुरु गाया"॥
"धन धन साधर्मीजन मिलनकी घरी।
बरसत भ्रमताप हरन, ज्ञान घन झरी"॥

वहॉ सर्व मुमुक्षु मण्डली श्री गुरुदेवकी धर्मामृत-वाणी-पानमे मग्न है; विचार आते ही, दूर रहने रूप दुर्भाग्यका खेद होता है।

"चिद्राय गुन सुनो प्रशस्त गुरु गिरा।
समस्त तज विभाव, हो स्वकीयमे थिरा"॥
"कुगुरु, कुदेव, कुश्रुत सेये मै, तुम 'मत' हृदय धर्यो ना।
परम विराग ज्ञानमय तुम, जाने विन काज सर्यो ना"॥
"हे जिन! मेरी ऐसी बुधि कीजे।
राग-द्वेषदावानल ते वचि, समता रसमे भीजे"॥

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र



[११]

कलकत्ता
१०-११-१९५३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

पवित्र आत्मार्थी

आप दोनोका लिखा हुआ कार्ड कल रात्रि मिला। सोनगढ़का पत्र देखते मात्र ही हृदय कैसा डोल उठता है, व्यक्त करनेमे असमर्थ हूँ। वहाँकी स्मृतियो बिना कोई दिवस नही गुजरता। आपके अन्तरंगको भली प्रकार समझता हूँ, फिर भी पत्रादिककी प्रवृत्तिमे मन संकुचित-सा रहता है अतः उत्साहवर्द्धक पत्र नही लिखा जा सका था।

कुछ समयसे यहाँके दिगम्वर जैन मन्दिरजीमे रात्रिको एक घन्टे मुमुक्षु भाइयोके साथ शास्त्रस्वाध्याय होती है। पूज्य श्री गुरुदेवकी शारीरिक अस्वस्थता व स्वस्थताके समाचार समय-समय पर उन भाईयोके पास वहाँके पत्रादिक आते थे उनसे मालूम होते रहते थे। परम-परम हर्ष है कि परम अद्‌भुत, जीवन उद्धारक, जन्म-मरणरूपी रोगसे रहित करनेवाले योगीराज श्री सद्गुरुदेवका स्वास्थ्य अब बिल्कुल ठीक है। अनादि-अनन्त आयुके धारक चैतन्य गुरुदेवकी देह भी दीर्घायु होवे, ऐसी भावना है।

बाह्यप्रवृत्ति व संयोगोसे इच्छा (राग) का माप नही होता व इच्छासे निरीच्छुक सूक्ष्म अभेदवृत्तिका माप नही होता। इच्छा होते हुए भी पुण्ययोग बिना क्षेत्रान्तर नही होता। वहाँ आने-जाने आदिके वायदे निश्चय निहालभाईके नही समझो। निश्चय निहालभाई तो अनादिसे कही आये-गये ही नही, न अब अनन्तकाल कही आने-जानेवाले ही है। न कभी किसीको वायदा किया ही था न करनेवाले ही है। वायदे व आने-जाने आदिका कार्य सब जड़ाश्रित जड़का ही है, चेतन निहालभाईका नही। चेतनने तो इस ही के कहलाये जानेवाले रागसे भी कभी निमित्तरूप सम्बन्ध तक नही किया तो अन्य क्रियाओ व वायदोमे तो इसका सम्बन्ध देखना वृथा है। हे प्रभो ! सर्व जीव सर्व सम्बन्धोसे रहित मात्र सामान्य चेतनमे ही अपने

अस्तित्वकी दृष्टि करे व लिखने, पढ़ने, आने, जाने, वायदे करने-कराने आदि सर्व पागलपनकी क्रियाओको उपचारिक निमित्तपने भी क्षय कर देवे, यह ही भावना है।

जड़ निहालभाईको अब भी सोनगढ़ पहुँचनेमे क़रीब २० दिवस और लगे, ऐसी आशा है। कलकत्तेसे एक हफ्तेमे क्षेत्रांतर होनेके आसार हैं।

धर्मस्नही
निहालचन्द्र



[१२]

कलकत्ता
२-१-१९५४

ॐ

आत्मार्थी

आशा है परम कृपालु उपकारी श्री गुरुदेव सु ख-शान्तिमे विराजते होगे। 'निर्जरा अधिकार' व श्री 'मोक्षमार्ग प्रकाशक'का आठवॉ अध्याय बहुत सरस चल रहा होगा।

पत्र आपका मिला, समाचार निगाह किये।...आप लोगोका विहार समयका प्रोग्राम जाना। जैसा अनुकूल योग होगा, गिरनार यात्रा आदिके समयका मेल मिलानेकी चेष्टा करूँगा। परन्तु अब योग्रा होना कुछ कठिन-सा दिखाई पड़ता है।

आप लोगोको व्यक्त करनेमे असमर्थ हूँ कि वहॉके लिये मुझे कितनी उत्सुकता रहती है। महाराजश्रीके विहार पहले उनके प्रवचन, साक्षात् दर्शन आदिका लाभ न होना हीन पुण्यका सूचक है।

समयपर वहॉ नही पहुँच सकनेके विषय पर आपकी परेशानी जानी। आपके वाचक शब्दोसे वाच्य भावका अनुमान होता है। मोक्षार्थी अपने क्षणिक अल्पकालीन भावोका मूल्य नही ऑकते।

सबोको यथायोग्य।

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र



[१३]

अजमर
१७-१-१९५४

आत्मार्थी धर्मस्नेह ।

आपका पत्र मिला । समाचार निगाह किये । इस समय सोनगढ़का वातावरण विहारकी अद्भुत उमंगोसे भरा हुआ होगा । सर्वश्रेष्ठ नेता सहित मोक्षमण्डली स्थान-स्थान पर विजयका स्तम्भ रोपने जा रही है, यह विचार हृदयको खूब उल्लसित करता है । दुर्भाग्यवश मुझे ऐसे अवसर पर वहाँ नही रहनेका खेद है । आशा है गुरुदेवश्रीका आत्मस्वास्थ्य व शारीरिक स्वास्थ्य निरन्तर वृद्धिगत होगे ।

आपने व्यावसायिक, यहाँकी मेरी परिस्थिति बाबत पूछा सो इस विषयको आपको लिखनेका विचार नही होता है । हमारी नीवॅ तो मुक्तिरसके विचारों पर पड़ी है । दूसरे विचारोमे आपको रस आवे, यह मुझे अच्छा नही लगता । अभी कार्यवश पत्र बन्द करता हूँ । आपका प्रोग्राम लिखते रहना । स्वस्थानको मुख्य रखकर ही परस्थानोके क्षणिक विकल्पोका सहज ज्ञान होता रहे, यह ही इच्छा है ।

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र



[१४]

कलकत्ता
१-२-१९५४

धर्मप्रेमी निहालचन्द्रका धर्मस्नेह ।

आशा है कल दिन मुक्तिदूत श्री सद्गुरुदेव व मुमुक्षुगण राजकोट सकुशल पहुँच गये होगे । लोकमे अलौकिक क्रांति फैल रही होगी ।

आपका पत्र मिला । मांगलिक विहारके आदि व अन्त स्थान गुरुदेवश्रीकी जन्मभूमि 'उमराला'का चित्रित दैनिक अंक भी मिला । यहाँ इस भक्तिभावपूर्ण अंकको मुमुक्षुओके बीच वांचनेका शुभयोग भी मिला । सबोने हृदयसे रसास्वादन किया ।

रह-रह कर विकल्प होता रहता है कि कमसे कम एक दो वर्ष निरन्तर अलौकिक सत्पुरुषके सहवासमे रहना होवे, परन्तु प्रारब्ध अभी ऐसा नही दिखता है। विहारमे जूनागढ़ आदिका योग शायद नही है।

मुझे व्यावहारिक अनुकूलता रहा करे, ऐसी आपकी सद्भावनाओको मै भलीभॉति समझता हूँ; कारण अबके आपके अधिक नज़दीकमे रह चुका हूँ व आपके प्रतिके मेरे विकल्प इसके साक्षी होते रहते है। फिर भी ऐसी भावनाओका मुख्यदृष्टि स्वीकार नही करती, सहज ही निषेध वर्तता जाता है। भावना एक समयकी व उस ही समय 'हम' इससे अधिक। स्वाभाविक न होनेसे एक दूसरेके आश्रित, विचित्रता धरती हुई राग-द्वेषमे परिणत हो जाये या वीतरागतामे, ऐसा स्वभाव है; राग भी नित्य नही रहता।

अहो! बिना विकल्पका कोरा आनन्द ही आनन्द! त्रिकाली गुब्बारेको पूर्ण फुलाये बिना (विकसित किये विना) अब एक क्षण भी चैन नही है! ध्यानस्थ अवस्थामे बैठा हुआ, अथाह ज्ञानसमुद्र व उसमे सहज केलि! ऐसा अनुभव मानो 'मै ही मै हूँ,' आनन्दकी घूँट पिये जा रहा हूँ – अरे रे! वृत्ति आनन्दसे च्युत होने लगी। पर वाह रे पुरुषार्थ! तूने साथ रही उग्रताका संकल्प किया, मानो अथाहकी थाह सदैवके लिये एकबारमे ही पूरी ले लगा। प्रदेश-प्रदेश व्यक्त कर देगा। सहज आनन्दसे एक क्षण भी नही हटने देगा। पर अरे योग्यता! तूने पूर्णताके संकल्पका साथ नही देकर अन्तमे च्युत करा ही तो दिया, तो फिर इसका दण्ड भी भुगतना पड़ेगा।

बहिनोकी सद्भावनाएँ देखकर उनकी इच्छानुसार अपनी व्यावहारिक अनुकूलता आदिका समाधान भी करना होगा। संक्षेपमे बात यह है कि आर्थिक स्थिति पहलेसे साधारणतया अच्छी है। सोनगढ समय पर पहुँचनेके वास्ते यहॉसे रवाना होने हेतु टिकट आदिका प्रबन्ध हो गया था, देहली आदि तार भी दिये थे। हमारे यहॉ का मुनीम एक होशियार व्यक्ति है, परन्तु पैसेके कार्यमे कच्चा है। रवाना होने की पहली रात मालूम हुआ कि पॉच-चार जगहसे उगाहीकी रकम लेकर चुपचाप निजीकार्यमे उसने खर्च कर दी है। स्थितिको क़ाबूमे करनेका विकल्प हो गया। रुकना हो

गया । दूसरा बन्दोबस्त जल्द नही बैठ सका व मेरी अनुपस्थितिमे सब रकम साफ़ न हो जाये, ऐसा विकल्प उठ खड़ा हुआ । गृहस्थभूमिका है, शिथिल योग्यताकी विजय हो गई, रुकना हो गया ; बस इतनी ही बात है, अतः लिखना ठीक नही समझा था ; और भी सहकारी कारणोने रुकनेमे ही सहायता दे दी ।

विहारके व राजकोटके कोई विशेष महाराजश्रीके उद्गार लिखना । व कोई महत्त्वपूर्ण घटना होवे तो लिखना ।...आप सबको सहजानन्दकी प्राप्ति होवे, यह ही इच्छा है ।

धर्मस्नही
निहालचन्द्र

आपने लिखा कि शान्तिसे पत्र लिखनेकी फ़ुर्सत नही है क्या ? अभी शान्ति है यह बताने हेतु समाप्त किये बाद भी लिखनेका विकल्प हुआ है ।

"पर्याय एक ओरसे प्रवेश करती हुई दिखती है; दूसरी ओरसे रमती हुई दिखती है; तीसरी ओरसे उघड़ती हुई दिखती है । वस्तु विचित्र है !

दीपककी लौ बुझनेके पहले समय अधिक प्रकाशित होती है । सहजानन्दसे च्युत होनेवाला पुरुषार्थ निर्बल होनेके पहले समय अधिक उग्र होता है । द्रव्य तो सहज पुरुषार्थका पिण्ड है, उसकी दृष्टिमे सहज ही च्युति नही होती ।"

"जीवनके परिणमनकी अति विचित्रता देखो रे ज्ञानी !"



[१५] कलकत्ता
२५-६-१९५४

ॐ

पूज्य गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी प्रत्ये निहालचन्द्रका धर्मस्नेह ।

पत्र पहले भी आपके मिले थे व एक अब भी कलकत्तामे मिला । मै क़रीब दो माहसे कलकत्तासे बाहर था, अतः जवाब आदि नही दिया जः सका था । क्या बताऊँ, हृदयको पूर्णतया व्यक्त नही किया जा सकता

है। यहाँ भी तीव्र भावनाएँ थी कि पूज्य गुरुदेवके विहारमे अवश्य साथ होऊँ। कुछ दिनो अजमेर रहना हुआ, वहाँसे उमरालाका प्रोग्राम भाई सोभागमल दोशी भजनमण्डलीवालोके साथ जमाया था, परन्तु वह भी पूर्ण नही हो सका। यहाँसे गए पश्चात् २०-२५ दिन शारीरिक अस्वस्थ्यताके कारण देर अधिक हो गई थी, अतः मिलवालोके तार-टेलिफोन बहुत आनेसे, अत्यन्त खेद है कि पूज्य परमोपकारी गुरुदेवके दर्शन बिना ही कलकत्ता वापस लौटना पड़ा। अब इस हालतमे उधर जल्दी आनेका प्रोग्राम फ़िलहाल नज़र नही आता है। सेठ बच्छराजजी, मालूम हुआ कि सोनगढ़ गए है, पहुँचे होगे। पुण्ययोग नही है, वहाँका संयोग नही है, अरुचिकर वातावरणका योग है। महान् अफ़सोस है। आपकी वारम्बारकी भावनाओको, मुझे वहाँ बुलानेको, मै भलीभाँति समझ सकता हूँ; मेरा भी हृदय वहाँके लिये अब आतुर है। काफ़ी समय हो गया है। पूज्य गुरुदेवकी व सोनगढ़के वातावरणकी स्मृतियाँ बारम्बार उत्साहको बढ़ाती रहती है। पापबन्ध ढीले पड़ते है, पुण्यबन्ध वृद्धि पाते है, विवेकमे है; पर इन सबसे क्या ? अहो गुरुदेव ! आपने तो इन दोनोसे ही निराली वृत्ति दिखा दी है, जो कि इनके होते हुए भी विचलित नही होती, खूँटेके सहारेसे डिगती नही है, उसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका प्रतिबन्ध नही है। पूज्य गुरुदेव कहते है कि जो कुछ लाभ है सो तो यह वृत्ति ही है, अनन्त सुखोके पिण्डके साथ रहती है, फिर चिन्ता काहेकी ? यह तो स्वयं स्वभावसे ही चिन्ता रहित है, निश्चिन्त वृत्तिमे चिन्तित वृत्तिका तो अत्यन्त अभाव है। हे भगवान ! आपकी यह वाणी मस्तिष्कमे नित्य घूमती रहे, यह ही भावना है। अधिक फिर।...

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र



● *जिनवर और जीवमे अन्तर नही।*

— पूज्य गुरुदेवश्री

[१६] कलकत्ता
२७-६-१९५४

ॐ

आत्मार्थी प्रत्ये निहालचन्द्रका धर्मस्नेह ।

पत्र एक पहले दिया सो पहुँचा होगा । आशा है पूज्य परम उपकारी सद्गुरुदेव सुख-शान्तिमे विराजते होगे व श्रोतागणोको अमृतरसमे स्नान करनेकी प्रेरणा मिलती होगी ।...

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र



[१७] कलकत्ता
२५-७-१९५४

ॐ

श्री कहानगुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी निहालचन्द्रका धर्मस्नेह ।

आशा है पूज्य गुरुदेव सुख-शान्तिमे विराजते होगे । मुमुक्षुमण्डल प्रतिक्षण आत्माश्रित सुखकी वृद्धिमे रत होवो !

आपका पत्र यथासमय मिला था । मेरा अजमेरमे तो लगभग १५-२० दिवस ही रहना हुआ था । आपने लिखा कि "विकल्पनुं कांईक कार्य आव्युं नही" सो हमारा तो सिद्धान्त भी यह ही है कि – विकल्पके अनुकूल कार्य होवे ही, यह आवश्यक नही है; विकल्प विकल्पमे, कार्य कार्यमे ।

मोक्षमार्गीको कुटुम्बीजनो मध्ये सुख मिलता होवे, यह कल्पना ही गलत है ।

"जाल सौ जग-विलास, भाल सौ भुवन वास,
काल सौ कुटुम्ब काज, लोक-लाज लार सी"

– बनारसीदासजी

उसे तो निरन्तर आत्मरमणता चाहिए । 'अरे ! जिसे धार्मिक जनोके

संग भी नही रुचते, उसे कुटुम्ब-संग तो रुच ही कैसे सकता है !' अरे ! विकल्पाश्रित पदार्थसे भी लाभ नही, साथ ही विकल्पसे भी लाभ नही।

आपने लिखा कि 'निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐवो छे के तीव्र भावना होय तो पापनो उदय पलटीने पुण्यनो उदय थई जाय'। विकल्पानुसार पदार्थकी प्राप्ति होना पुण्य नही है, वरन् तीव्रता पलटकर मन्दता होना पुण्य है। अतः राग छूटने अथवा कम होनेमे सुख है, पदार्थके मिलनेमे नही। अतः आत्माश्रित रागकी मन्दता होवे, यह ही भावना है।

गुरुदेव कहते हैं : " इच्छामां सावधानपणुं ज्ञानीने नथी, पोताना स्वभावनुं सावधानपणुं चूकीने परपदार्थमां सावधानपणुं ज्ञानी करतो नथी" —ज्ञानीने इच्छानी इच्छा नथी। प्रदेशे-प्रदेशे मै मात्र चैतन्य-चैतन्य व आनन्द ही आनन्दसे ओत-प्रोत वस्तु हूँ। स्वरूपरचना पर्यायमे स्वतः ही हुए जा रही है। इच्छा तोड़ूँ, स्वरूपकी वृद्धि करूँ आदि विकल्पोका जिस सहज स्वभावमे सहज ही अभाव है। अरे ! सहज शुद्धपर्यायका भी जिस त्रिकाली ध्रुववस्तुमे सहज ही अभाव है, ऐसी नित्य वस्तु मै हूँ, त्रिकाली परिपूर्ण हूँ – ऐसी दृष्टि एकबार अवश्य-अवश्य हो जाओ – बस ! सुखसमुद्रका दरिया एकदम सहज उमड़ पड़ेगा। परके लिये विकल्प करना बेकार है। अरे ! मै बिना किसीके ही अभी ही परिपूर्ण हूँ, एकबार ऐसी तीव्र भावना होनी चाहिए, ताकि सामान्य वस्तुके बोधका अवसर आये। 'परमे सावधानीपणा नही, स्वमे सावधानीपणा होना चाहिए'।

अरे द्रव्य सामान्य ! तेरे प्रतापसे झुकती हुई पर्याय (परिणाम) भी सहज खड़ी होती जाती है; अनादिका बोझा प्रतिक्षण हटता जाता है; उत्तरोत्तर सुखकी वृद्धि होती जाती है।... धन्य है तेरा बोध ! गुरुदेव कहते है:-

"ज्ञानीने ज्यां स्वरूपनिधान प्रगट्युं, त्यां पर्यायमां (शरीरमे नही, परिणाममें) जुवानी आवी जाय छे, निर्भयता अने निःशंकता थई जाय छे। क्षणे-क्षणे अबन्धस्वरूप प्रगट थतुं जाय छे। वर्तमान पुण्यभाव थाय अने ऐनुं फल हजो, ऐवी वांछा ज्ञानीने नथी।"

कीचड़मे धँसनेपर भय वृद्धि पामता जाता है परन्तु चैतन्यमे धँसनेपर निर्भयता ृद्धि पामती जाती है। मै चैतन्य-चैतन्यमे ही चलता हूँ; जड-जडमे; विभाव-विभावमे; मुझ नित्यमें मेरी पर्याय (परिणाम)का भी प्रवेश नही है; अन्यकी बात ही क्या ? अरे ! परिणाम परिणमता है और उस ही समय 'मै' अपरिणामी हूँ। अरे भगवान कारणपरमात्मा ! तेरे दर्शन होते ही विभावकी पीठ दिखने लगती है; तेरा यथार्थ भान हुए बिना पूर्वमे परिणामाश्रित परिणामोका इतना तीव्र बन्ध कर चुका था कि उनकी अवधि ख़तम होनेके लिये तेरे दर्शन स्वाभाविक होने ही थे। अरे चैतन्य ! तेरी इतनी पहोलाई विस्मित-सा कर देती है ! हे गुरुदेव ! आप कितनी पहोलाई तक प्रसर चुके हो, पहोलाई भी है साथ ही ठोसपना भी ! हे गुरुदेव ! आपकी वाणीका स्पर्श होते ही मानो विश्वकी उत्तमोत्तम वस्तुकी प्राप्ति हो गई। क्या मै मुक्त होनेवाला हूँ ! अरे ! शास्त्रोमे जिस मुक्तिकी इतनी महिमा बखानी है, उसे आपके शब्द मात्रने इतना सरल कर दिया ! क्या विश्वमे अब और भी कुछ चाहना बाकी रह गई ? अरे निरीच्छक वस्तु ! रागरहित अतीन्द्रिय आनन्दका अपूर्व स्वाद-अपूर्व सहज ज्ञानकला !

गुरुदेव कहते है – "मारुं ज्ञानतत्त्व ज मने गमे छे। गमे ते क्षेत्र होय पण पोताना ज्ञानमां ज व्यापीने रहेवो छे. ज्ञानी, पुण्य-पाप (विकारीभाव) शरीर के निमित्तमां अवगाहन करतो नथी, पण पोताना ज्ञानस्वरूपी गगनमण्डलमां ज व्यापे छे." – देखो गुरुदेवकी ज्ञानानन्द मस्ती !

गुरुदेवकी कथनशैली तो देखो ! कहते है कि – "अशुद्धता रोकाई जाय छे अेटले के अशुद्धता प्रगट ज थती नथी, तेने अशुद्धताने रोकतो, अेम कहेवाय छे"।

अभानदशामे चैतन्यगाँठ कर्मोके संगमे कभी इधर लुढ़कती है व कभी उधर; परन्तु भानदशामे ऐसा बोध होता है कि 'अरे ! परिणाम परिणम गया और 'मै' यूँ का यूँ ही रह गया' – ऐसा 'मै' त्रिकाली नित्य-ध्रुव अद्‌भुत रत्न हूँ।

गुरुदेवके चरनोमे रत मुक्तिमण्डलीमे मेरे उत्तरकालके स्थानका निश्चत भान है, पर अरे ! यह तो जड़ पद है, मेरा तो चैतन्य पद है ।

"निज कल्पनाथी कोटि शास्त्रो, मात्र मननो आमलो,
गुरुवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो साभलो ।"

अनुभव लेखनीमे व्यक्त नही हो सकता ।

सबोको धर्मस्नेह ।

– निहालचन्द्र



[१८]

कलकत्ता
९-९-१९५५

आत्मार्थी धर्मस्नेह ।

पत्र एक आज दिन आपने किसीके मार्फ़त भिजवाया था सो मिला है, पहले भी अजमेरमे मिला था । कई कारणोसे जवाब लिखनेकी वृत्ति रुक गई, व अब भी पत्रादिक लिखनेको मन नही करता है । हमारी तरफ़के आपको विकल्प होते है; परन्तु विकल्पोमे तो जागृति सदा हेय होनी चाहिए, चाहे वह साक्षात् तीर्थकरके प्रति ही क्यो न होवे । निजद्रव्यमे अस्तित्वका निरन्तर श्रद्धान व सहज अनुभव रहनसे, सहज ही विकल्प टूटने लग जाते है व सहज निर्विकल्प स्वाद आने लगता है, जिसके आस्वादन किये बाद विकल्पोका रस सहज ही ठण्डा पड़ने लग जाता है । हमारा तो मन निज चैतन्यबिम्बके अलावा अब कही नही जाना चाहता । लौकिक दृष्टिसे हमारा एक-डेढ़ वर्षसे अधिकका समय तीव्र असाताकी दशाओंमे रहा, अतः इस कारणसे भी पत्रादिककी वृत्ति ओछी रही । हमारी तो यह ही इच्छा है कि आपके विकल्प भी और कही इधर-उधर न जाकर अपनी निज चैतन्यप्रतिमाको घड़ने लग जाये, तो वस्तुका आश्रय होते ही अपूर्वता प्रकट होवे व हमारी तरफ़के निरर्थक विकल्पोका अन्त हो जाये ।

हमारा पत्र आदि न मिले तो कोई ख़याल नही करना चाहिए । हमारी वहाँ आनेकी जिज्ञासा काफ़ी है, अभी योग्यता नही है, आने पर स्पष्ट

कर सकेंगे।

श्री गुरुदेवका प्रसाद दैनिक यहाँ आता है। उनका शारीरिक स्वास्थ्य ठीक होगा।...

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र



[१९]

कलकत्ता
२३-३-१९५६

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी निहालचन्द्रका धर्मस्नेह।

कलकत्तेसे एक भाई वहाँ गये थे, उन्होंने आपके समाचार कहे थे। विद्वत्परिषद पर वहाँ पहुँचनेका निश्चय किया था, वह भी कुछ ही समय अर्थात् एक हफ्ते तक वहाँ ठहरनेका, सो प्रोग्राम बदलनेसे फिर रुकना हो गया। कुछ योग ही ऐसा है, पूर्व कर्म भी ऐसे है कि उत्कृष्ट संयोगसे वंचित रहना पड़ रहा है। सर्वप्रथम सोनगढ़ गया था तब ही तीव्र भावना थी कि वहाँ कोई मकानका प्रबन्ध कर निरन्तर गुरुदेवके चरणोमे लाभ उठाऊँ; परन्तु योग ऐसा है कि अबके तो बरसोसे भी दर्शन नही हो सके। इस माहमे तो वहाँ की बारम्बार स्मृतियाँ प्रबलतर होती जा रही है व परिषद पर पहुँचनेका योग भी नही बना, गोया मुझे परिषदसे अधिक प्रेम नही था फिर भी सुयोग समझकर समय चुना था। ऐसी हालतमे पत्र लिखनेका विचार हुआ सो लिखा जा रहा है।

जिस आत्मद्रव्यमे परिणाम मात्रका अभाव है उसमे जम गया हूँ। परिणमन सहज, जैसा होता है, होने दो; हे गुरुदेव! आपके इन वचनोंने अपूर्व निश्चलता पैदा कर दी है। चञ्चलता व निश्चलता तो परिणाममे है, मै नित्य हूँ, मेरेमे नही, यह अनुभव अपूर्व है। परिणाम क्षण-क्षण निराकुलताकी वृद्धि पामते है। "तो पण निश्चय राजचन्द्र मनने रह्यो, गुरु

आज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो।" सम्यक् पुरुषार्थसे या तो पुण्ययोग होकर, अनुकूलता प्राप्त होकर राग टूटे अथवा पुण्यके अभावमें वीतरागता बढ़ कर राग टूटे। राग टूटना निश्चित है, क्योंकि श्रद्धाने राग-अरागरहित स्वभावका आश्रय लिया है व वीर्यकी क्षण-क्षण उधर ही उधर सहज उन्मुखता होनेसे ज्ञान-आनन्दमयी अरागी परिणाम ही वृद्धिगत होंगे, यह नियम प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है।

अभी रात्रिके आठ बजे है, मन्दिरजी जानेका समय है अतः बन्द करता हूँ।...

सबको धर्मस्नेह।

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र



[२०]

कलकता
४-९-१९५६

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी धर्मस्नेह।

कार्ड मिला। परम पूज्य महानुयोगी श्री गुरुदेवके चरणोमे सादर प्रणाम। आशा है गुरुदेवश्री सुख-शान्तिमे विराजते होगे व आप पुण्यवान जीव उनकी साक्षात् अमृतवाणीसे पूर्ण तृप्त हो रहे होगे।

लम्बे कालसे, हीनयोगसे, मुझे तो प्रत्यक्ष गुरु दर्शनका अभाव रहा है। शिखरजीकी यात्रापर, अथवा कलकत्तेके प्रोग्राम पर पुण्योदयसे, साक्षात् दर्शनका लाभ होनेवाला है, यह जानकर बहुत प्रसन्नता है।

भादवा सुदी ५ को बहिनें आजीवन ब्रह्मचर्यकी प्रतिज्ञा लेगी, यह प्रसंग बहुत सुखप्रद होगा। शान्ताबहिनका आज कार्ड मिला, मालूम हुआ अचरजबहिनकी बच्चियॉ भी प्रतिज्ञा लेंगी, बहुत हर्षका विषय है; मै इस अवसर पर जैसा कि बहिनने शरीक होनेको लिखा है, वहॉ नही आ

सकूँगा, इसका मुझे खेद है; बहिनसे मेरी असमर्थता सूचित कर देना। प्रसंगके प्रति मेरी हार्दिक अनुमोदना है।

बहिने सोचती होंगी, निहालभाईने न पत्र दिया है, न आना ही हुआ है, कही सुमार्गसे हटना तो नही हो गया है, कारण अशुभयोगोंमे तो प्रवृत्ति है व शुभसे उदासीनता दिखती है। मेरे प्रति अनुराग है न, अतः आपको कहकर कार्ड डलवाया होगा। विकल्पात्मक वृत्तियोका तो सहज ही अनुमान कर लिया जाता है, परन्तु निर्विकल्पताका माप तो बाह्यसे नही किया जा सकता; यह तो स्वयंके समाधानका विषय है। बहिनोंका व आपका मेरे प्रति वात्सल्यवत् अनुराग है व मेरा भी आप लोगोंके प्रति; 'यह एक मार्ग'मे चलनेवालोंका सहज सम्बन्ध है। एकाकार गोलेमें प्रविष्ट दृष्टिसे वृत्तियोमे फेरफार नही किया जा सकता; जड़ पत्रादिककी बात तो दूर। हॉ, इस दृष्टिसे यथार्थ ध्येय व मार्गकी निःशंकता अवश्य है, अनुभवगम्य है। शक्तिकी निरन्तर पकड़ अथवा एकतासे अथवा 'शक्तिमयी ही हूँ' ईस अनुभवसे वृत्तियोके सहज फेरफारका प्रत्यक्ष समाधान होता है; व गुरुदेवकी वाणीका साक्षात् अर्थ समझमें आता है, जिसका फल वृद्धिगत होते हुए सुखकी पूर्णता है। अशुभमें सहज खेद, शुभमे कुछ उत्साह, सहज ही होता है; पर इन दोनोमे अथवा शुद्धतामे भी फेरफार करनेसे कोई प्रयोजन नही; 'मात्र पिण्ड हूँ', 'वृत्ति नही', गुरुदेवके इन्ही वचनोको हृदयमे उतार लिया है।

शेष फिर।

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र



[२१]

कलकत्ता
२९-६-१९५९

आत्मार्थी प्रत्ये निहालचन्द्रका धर्मस्नेह।

आपका कार्ड अजमेरसे भिजवाया हुआ मुझे यहॉ मिला। मै क़रीव १५ दिनसे कलकत्ता ही हूँ। व्यापार सम्वन्धी कार्यसे आया हुआ हूँ।

ही घरसे बाहर इस एक्सीडेन्टके बाद पहले-पहले निकल रहा हूँ।

"किस प्रकार आत्मा अपनी ओर पुरुषार्थकी वृद्धि करनेका प्रयोग करता है ?" आपके इस प्रश्न पर मेरा तो इतना ही लिखना है कि प्रथमकी यथार्थ श्रद्धा समय, श्रद्धाकी पर्यायका अखण्डकी ओर जो झुकाव अथवा लीनताका पुरुषार्थ होता है उसमे कालभेद नही है व यथार्थ श्रद्धामे जो पुरुषार्थका प्रयोग है, बारम्बार उस ही प्रयोगकी वृद्धि होती रहती है, उसे वृद्धिका पुरुषार्थ कहते हैं। पहलेके व बादके पुरुषार्थके प्रकारमें कोई प्रकारका फ़र्क नही है। इस ही लिये गुरुदेवश्रीका यथार्थ समझणपर बारम्बार ज़ोर रहता है, कारण इस प्रथम समझणमे ही भविष्यका सम्यक् पुरुषार्थ गर्भित है।

अखण्ड ज्ञानघन पुरुषाकार (देहाकार) शरीर, कर्म, भावकर्म व शुद्धपर्यायसे भी ऊँडा चैतन्य तत्त्व 'मै' हूँ, यह ही मेरा अस्तित्व है, शुद्धपर्यायका अस्तित्व भी इसमे गौण है; ऐसी प्रथम यथार्थ श्रद्धा जब ही कही जाती है कि ऐसी श्रद्धाके प्रसारके साथ ही लीनताका प्रथम आत्मानुभव होता है। लीनताका पुरुषार्थ अथवा इसमे वृद्धि यह सब पर्यायके कार्य हैं। मेरापना, मेरा अस्तित्वपना अथवा व्यापकपना तो केवल त्रिकाली ज्ञानघन अखण्ड चैतन्यमें है – इस दृष्टिमें पर्यायका पुरुषार्थ सहज स्वभाव है। पर्यायअपेक्षा पुरुषार्थ हुआ, वृद्धि हुई, उसे पुरुषार्थ किया अथवा वृद्धि करी, ऐसा कहते हैं। यथार्थमें तो उक्त अस्तित्वपनेकी अखण्ड दृष्टिके बलपर पर्यायोका क्रम सहज ही अखण्डकी ओर बढ़ता रहता है। पुरुषार्थ आदिकी इन पर्यायोमे कोई उलटफेर (अधिक व कम पुरुषार्थ आदिका) करना नही पड़ता; कारण कि पर्यायमें तो मेरा – दृष्टिके विषयका –अस्तित्व ही नही है कि 'मै' उसमें कुछ कर सकूँ ! मेरा अस्तित्व तो त्रिकालीपनमें है।

आशा है मेरा दृष्टिकोण मैं व्यक्त कर सका हूँ।...

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र सोगानी



ही घरसे बाहर इस एक्सीडेन्टके बाद पहले-पहले निकल रहा हूँ।

"किस प्रकार आत्मा अपनी ओर पुरुषार्थकी वृद्धि करनेका प्रयोग करता है ?" आपके इस प्रश्न पर मेरा तो इतना ही लिखना है कि प्रथमकी यथार्थ श्रद्धा समय, श्रद्धाकी पर्यायका अखण्डकी ओर जो झुकाव अथवा लीनताका पुरुषार्थ होता है उसमे कालभेद नही है व यथार्थ श्रद्धामें जो पुरुषार्थका प्रयोग है, बारम्बार उस ही प्रयोगकी वृद्धि होती रहती है, उसे वृद्धिका पुरुषार्थ कहते है। पहलेके व बादके पुरुषार्थके प्रकारमें कोई प्रकारका फ़र्क नही है। इस ही लिये गुरुदेवश्रीका यथार्थ समझणपर बारम्बार ज़ोर रहता है, कारण इस प्रथम समझणमें ही भविष्यका सम्यक् पुरुषार्थ गर्भित है।

अखण्ड ज्ञानघन पुरुषाकार (देहाकार) शरीर, कर्म, भावकर्म व शुद्धपर्यायसे भी ऊँडा चैतन्य तत्त्व 'मैं' हूँ, यह ही मेरा अस्तित्व है, शुद्धपर्यायका अस्तित्व भी इसमे गौण है; ऐसी प्रथम यथार्थ श्रद्धा जब ही कही जाती है कि ऐसी श्रद्धाके प्रसारके साथ ही लीनताका प्रथम आत्मानुभव होता है। लीनताका पुरुषार्थ अथवा इसमे वृद्धि यह सब पर्यायके कार्य है। मेरापना, मेरा अस्तित्वपना अथवा व्यापकपना तो केवल त्रिकाली ज्ञानघन अखण्ड चैतन्यमें है — इस दृष्टिमे पर्यायका पुरुषार्थ सहज स्वभाव है। पर्यायअपेक्षा पुरुषार्थ हुआ, वृद्धि हुई, उसे पुरुषार्थ किया अथवा वृद्धि करी, ऐसा कहते हैं। यथार्थमें तो उक्त अस्तित्वपनेकी अखण्ड दृष्टिके बलपर पर्यायोका क्रम सहज ही अखण्डकी ओर बढ़ता रहता है। पुरुषार्थ आदिकी इन पर्यायोमे कोई उलटफेर (अधिक व कम पुरुषार्थ आदिका) करना नही पड़ता; कारण कि पर्यायमें तो मेरा — दृष्टिके विषयका —अस्तित्व ही नही है कि 'मै' उसमें कुछ कर सकूँ ! मेरा अस्तित्व तो त्रिकालीपनमे है।

आशा है मेरा दृष्टिकोण मै व्यक्त कर सका हूँ।...

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र सोगानी



पूर्व उदय, अखण्ड स्वरूप संस्थानमे दौड़ लगाते हुए, सीमास्पर्शके पूर्व ही भयभीत होकर निराश्रय, लड़खड़ाकर गिरने लगते है। क्रमः क्रमः पूर्णता होनेकी, सुख-शान्तिके अनुभवपूर्वक निःशंकता वृद्धि पामती है।

बलवानका सब साथ देते हैं। साधकके अखण्डबलके जागृत होते ही, अचेतन पुद्गलादि भी अखण्ड स्वरूपाकार वर्तकर सहायक (व्यवहारे) होने लगते हैं।

पत्रोत्तर मिलना, नही मिलना, विलम्ब होना आदि सब विस्मृत करने योग्य हैं। ज्ञानानन्दस्वभावकी अनुभूतिमे भङ्ग पड़नेपर लिखने आदिके विकल्प होते हैं सो सब स्वरूपसे निकलते ही प्रत्यक्ष, उन्मत्त-पागलपनकी जड़दशास्वरूप अनुभवाते है। जड़से जड़के सम्बोधनोमें चेतनको कोई लाभ नही।

वर्तमान पर्यायमे पूर्व-उत्तर कालकी पर्यायका ज्ञान विद्यमान है तव स्मरण, मननका बोझा उठाना व्यर्थ है।

शुभयोगमें भी थकान अनुभव करनेवाले जीवके लौकिकयोगकी तीव्र दुःखदशा पर...हे करुणा सिन्धु ! करुणा करो... करुणा करो, यह ही विनती।

पर्याय ही पर्यायका कर्ता है, त्रिकाली अंश अथवा आखा द्रव्य नही, यह 'कर्ता-कर्म'की चरम सीमा है। अतः पर्यायमें आखा एकाकार होना योग्य नहीं।

सबोंको यथायोग्य।

— निरन्तर समाधि इच्छुक



- *मै तो चिन्मय अखण्ड ज्योतिस्वरूप हूँ, पर्याय रुप नही।*
- *पर्याय द्रव्यका आश्रय करती है, लक्ष्य करती है इससे पर्याय शुद्ध होती है।*

— पूज्य गुरुदेवश्री

[२५]

कलकत्ता
१-११-१९६१

ॐ

सतत दृष्टिधारा बरसाते, चैतन्यके प्रदेश-प्रदेश सहज महान् दीपोत्सवकी क्षणे-क्षणे वृद्धि करते श्री गुरुदेवको अत्यन्त भक्तिभावे नमस्कार !

धर्मानुरागी

पत्र यथासमय मिला। मेरे प्रतिके अनुरागसे, वारम्वार आप लोगोको मुझे वहॉ बुलानेका विकल्प होता है। परन्तु पूज्य गुरुदेवके सान्निध्यका, दीपावलीके अवसरपर, मुझे लाभ सम्भव नही है। ऑखके ऑपरेशनका समय कम रह गया है सो पूरा-पूरा ख़यालमे है।

श्री दीपचन्दजी आदि वहॉ आये हुए है व मेरे सम्वन्धमे कुछ वात भी हुई लिखा सो जाना। अधिक क्या लिखूॅ ? श्री वनारसीदासजीके पद दोहरा देता हूँ :

"मै त्रिकाल करनीसौ न्यारा, चिद्‌विलास पद जग उजयारा।
राग विरोध मोह मम नाही, मेरो अवलम्बन मुझ माही॥"
"तजि विभाव हूजे मगन, सुद्धातम पद माहि।
एक मोख-मारग यहे, और दूसरो नाहि॥"

आप सवोको जय जिनेन्द्र।

आपका
निरीच्छुक मोक्षाभिलाषी



- *आनन्द सहितके ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते है।*
- *चैतन्य आत्मासे प्रेम करना, निर्विकल्प शाति द्वारा आत्माको देखना, वह धर्म है।*
- *भगवान अन्तरमे विराजते है उन्हे वाहर विकल्पोमे, रागकी क्रियामे अज्ञानी खोजते है।*

— पूज्य गुरुदेवश्री

[२६]

कलकत्ता
१६-१२-१९६१

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी धर्मस्नेह।

लगभग बीस दिवससे रागांशमें विशेष खेद-खिन्नता वर्त रही है, ऐसे समय आपका पत्र मिलनेसे प्रसन्नता हुई। वहाँसे आये पश्चात् १-१॥ माह तक सोनगढ़की विशेष ख़ुमारी रही, अभी तो उसका शतांश भी नही है।

व्यावसायिकस्थितिमे कई प्रकारके परिवर्तन हो जानेसे, अब चले, अब चले, सोचते हुए भी वहाँ आनेका प्रोग्राम नही बन सका। गुरुदेवश्रीकी आँखके ऑपरेशनके ता. २४ बाबतके समाचार 'सुवर्णसन्देश'मे भी पढ़े थे। परन्तु पुण्ययोगके अभावमे उनके साक्षात् दर्शन व वाणीका लाभ कैसे मिले? व्यवहारसे व ख़ास तौरसे अशुभयोगसे पूर्ण निवृत्ति चाहते हुए भी, गृहस्थ आदि व्यावसायिक जञ्जालोंका ऐसा उदय है कि मन नही लगे वहाँ लगाना पड़रहा है, बोलना नही चाहते उनसे बोलना पड़ता है, ऐसी योग्यता है।

हे गुरुदेव! लोकोत्तर लाभ हेतु आपके वचनो पर श्रद्धा की है, आशीर्वाद देता हुआ आपका मोहक चित्र देखा है। आपके आशीर्वादसे पूर्ण आनन्दमयी निधिको प्राप्त हो जाऊँ और अनन्त पदार्थोके तीनकालके अनन्ते भाव वर्तमान एक-एक भावसे अविच्छिन्न प्रत्यक्ष होते रहे – ऐसी तीव्र अभिलाषा है। दरिद्रीको चक्रवर्तीपनेकी कल्पना नही होती। पामरदशावालेको 'भगवान हूँ...भगवान हूँ' की रटन लगाना, हे प्रभो! आप जैसे असाधारण निमित्तका ही कार्य है। परिणतिको आत्मा ही निमित्त होवे अथवा भगवान...भगवानकी गुंजार करते आप; अन्य संग नही; यह ही भावना।

मेरा यहाँ रहनेका अथवा बाहर जानेका प्रोग्राम तो सदैवकी तरह अनिश्चित-सा ही समझो।

अशुभयोगमे कटाला हुआ
– चेतन



[२७]

कलकत्ता
९-४-१९६२

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

धर्मस्नेही शुद्धात्म सत्कार।

आपका कार्ड व पत्र मिले। मानस्तम्भके शुभ प्रसंगपर भी मै वहॉं नही आ सकूँगा, इसका कारण पत्रके साथ भेजी गई शादीकी पत्रिकासे मालूम होगा। बड़े पुत्रकी शादी ता. १६-४ की है; पुण्यवानोको शुभप्रसंगका योग है, उन्हे अशुभप्रसंगपर बुलाना ठीक नही है; फिर भी लौकिक व्यवहारवश दो पत्रिकाएँ भिजवाई है। वहॉंसे आये पश्चात् परिणति कीचड़मे ही फँसी रहती है, जैसी योग्यता है वैसे ही निमित्तो मध्ये रहना हो रहा है। प्रत्यक्ष दुःखसमूहमे वेदन चलता है, परन्तु एक ही झटकेमे हटना नही होता है। रस बिल्कुल नही है, खेद वर्तता है। फिर भी ईधरसे निवृत्तियोग नही बैठता; यह भी पूर्व कर्मोकी दैन ही है। अखण्डकी अखण्डताका प्रयास भी शिथिल-सा ही रहता है। हे गुरुदेव! आपमें तीव्र भक्तिका उदय होनेसे ही इधरके दुःखका इलाज होगा, दूसरा कोई इलाज नहीं, यह भलीभॉंति जानता हूँ।

अधिक क्या लिखूँ? सोनगढ़की दयाका पात्र हूँ। आपके उलाहने सुनने योग्य हूँ। करीव एक माहसे कुछ शारीरिक अस्वस्थ्यता भी चल रही है।

हे प्रभु! शीघ्र इधरसे निवृत्ति होकर गुरुचरणोमे रहना होवे, जिन्होने अखण्ड गुरुवासमे चरना सिखाया है, यह ही विनती।

आप सबसे क्षमाका इच्छुक व आपकी वात्सल्यताका आभारी।

— निहालभाई



[२८]

कलकत्ता
१४-७-१९६२

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी　　धर्मस्नेह।

पत्र आपका मिला, इससे पहले एक पत्र यहाँ लग्नके समय मिला था, जिसका जवाब भी दिया था। इस मध्ये तो कोई पत्र मिला नहीं। हर पत्रमे मेरे वहाँ आनेके लिये स्वाभाविक रागवश आपका अनुरोध रहता है व न आनेके लिये बहुत प्रकारका उलाहना व उपदेश भी। मेरे परिणामोकी स्थिति समय-समयकी लिखी तो नही जा सकती; इतना ही कह सकता हूँ कि बिना रसके भी परिस्थितिवश लाचारीसे ही इधरके अशुभउपयोगोंमें रहना होता है। मेरी भूमिकामे अशुभउपयोगकी ही अधिकता है, स्थिरता के प्रयत्न समय भी; अधिक क्या लिखूँ ? ध्रुव आत्मा तो परिणामोमे भी किंचित् उथल-पुथल नही कर सकता। ध्रुवमे श्रद्धाकी यथार्थ व्यापकताका यह नियम श्री गुरुदेवने बताया है, वह सही है, समझमें भी है। रागको इधर करो, उधर करो आदि तो परिणामोपर अस्तित्व समझनेवालोके लिये मुख्यतः अपेक्षाओके कथन है। परिणाम शुभ है, अशुभ है, इनमें कितना पुरुषार्थ भी सहज लग जाता है आदि ध्रुवकी एकता सहितके ज्ञानमें आता रहता है। श्रद्धाकी अखण्ड एकताके साथ ही चारित्रकी अखण्डता भी ध्रुव के साथ हो जाये, यह ही लक्ष्य है; व यथार्थ श्रद्धाके साथ ऐसा ही होगा, यह ही नियम है। इसके हुए बिना, मात्र ऐसा हुए बिना, जीवको चैन नही। अन्य तरफ़के रागमें निरन्तर रस नही, चाहे क्षणिक रस दिखाई भी दे। शुभ निमित्तोंके संगमे अधिक मन्द कषायादिक होनेसे स्थिरता भी अधिक व शीघ्र होती रहती है, यह भी ज्ञानमे है; परन्तु मुख्य संग तो निर्बाध अपराधीन चेतनका ही है, अन्य संग तो उदयाधीन है। अधिक लिखनेमे सार नही। उधर आनेके विकल्प भी बहुवार उठते हैं पर अधिक ज़ोर नही खाते। आपके पत्रोके मात्र उधर आने बावत लिखे होनेका,

अतः क्या जवाब दूँ ? मेरी ऐसी स्थितिमे आप वहाँके रोज़ाना या हफ़्तेके ख़ास-ख़ास गुरुदेवश्रीके न्याय आदि लिखो तो अधिक प्रिय लगेगे। आना तो होगा जब होगा, शायद जल्दी आ भी जाऊँ, ऐसा योग भी दिखता तो है।

सब बहनोको व शशीभाईको धर्मस्नेह।

– आत्मार्थी



[२९]

कलकत्ता
३-९-१९६०

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी धर्मस्नेह।

आपका पत्र पहले भी मिला था व शशीभाईका एक और भी। आपने लिखा था कि अब निवृत्ति काल पका, यह पढ़कर बिजलीके वेगकी तरह आनन्दकी लहर आयी थी; कारण पूर्वे निवृत्ति ही विकल्परूपसे निश्चये भजी थी, ऐसा पूरा प्रतीतिमे आता है। अब तो श्री गुरुदेवकी कृपासे न निवृत्त हूँ, न प्रवृत्त हूँ, ऐसा निश्चय हो चुका है व पूर्वके निवृत्तपरिणामोने अतः अब निश्चयके बजाय व्यवहारका पद ले रखा है। समय लगभग २० दिन पहले आया भी था, बम्बई तक जाना भी हुआ था, सोनगढ़ पहुँचनेके विकल्प भी अधिक हुए थे मगर इधर ही लौटना पड़ा, ऐसे कारण हो गये थे। अब दशहरे के बाद उधर आना हो सकेगा।

आप लोग साक्षात् चैतन्यमूर्ति गुरुदेवके सान्निध्यमे दशलक्षणी पर्वके अवसर पर अति उत्साहपूर्वक धर्मलाभ लेगे, मुझ जैसे पुण्यहीनको यह लाभ कहाँ ?...

अधिक क्या लिखूँ ? विकल्पोको तो धधकती हुई भट्ठीके योगोंका निमित्त है व इस मध्ये ही रहना हो रहा है, जबकि चैतन्यमूर्ति विकल्पोको

छूनेवाली भी नहीं है; अधूरी दशाके विकल्पांशोमें श्रद्धामे जमी हुई इस मूर्तिका एक रस आलिगन कहाँ ! चैतन्यमूर्तिके एक रसमे ओत-प्रोत रहे, यह ही भावना ।

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र



[३०]

कलकत्ता
८-११-१९६२

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी शुद्धात्म सत्कार ।

वात्सल्यानुराग प्रेरित आपका पत्र, कुटुम्बियोका दीपावली कार्ड मिला । श्री सेठियाजी सोनगढ़ पहुँचे, जाना । ज्ञानानन्दी गढ़, वीतरागप्रधानी गुरुदेवकी प्रशस्त राग अंश निमित्तक सिहगर्जनाओंसे ४७ नयोपर पुण्यवान मुमुक्षुओंको उल्लासित प्रवचनोका लाभ हुआ, जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई । पुण्यअभावयोगसे इस अवसरसे मुझे वंचित होना पड़ा, इसका खेद रहा । श्री गुरुदेवके प्रवचनोका मुख्य सार मैने यह लिया है :

वर्तमानमे ही परिपूर्ण हूँ । वर्तमानसे ही देवादिक पर अथवा उनआश्रित रागसे किचित्मात्र लाभका कारण नही । लाभ मानना ही अलाभ है । वेदनके अलावा अन्य कोई क्रिया जीवकी नही । शरीरआश्रित अथवा परआश्रित आकुलित वेदनको, समकाले ज्ञानवेदन द्वारा, गौण करते-करते नाश करना मुमुक्षुओका ध्येय है । यह ज्ञानवेदन अखण्ड त्रिकाली अपरिणामी ध्रुव अस्तित्वमयी स्वपनेके अनुभवमे सहज ही उदय होता है । रागसे भेद करता (ज्ञान) निशंकित निराकुल सुख वेदनके साथ प्रत्यक्ष प्रमाणरूप प्रगट होता है । वृद्धि पामता-पामता अनन्त सुख व ज्ञानका लाभ करता है । अप्रसिद्ध अवेदक मुख्य अखण्ड स्वभावमे श्रद्धाके स्वअस्तित्वरूपमे प्रसरते ही प्रसिद्ध वेदन गौण होकर एक ही काल त्रिकाली व वर्तमान दोनो भावोका

अनुभव होता है। यह ही भेदज्ञान है। रागसे पृथक् ज्ञानका अनुभव ऐसे ही होता है अन्यथा नही।

योग होनेसे April में श्री गुरुदेवकी जन्मतिथि पर मिलना होगा।

शुद्धात्मस्नेही
निहालचन्द्र



[३१] कलकत्ता
८-११-१९६२

ॐ

श्री गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी शुद्धात्म सत्कार।

आपका दीपावली कार्ड, तत्पश्चात् पत्र मिला। समझमे नही आता क्या लिखूँ ? उत्कृष्ट पुण्ययोगसे, ज्ञान-आनन्दकी खान अपूर्व सत्पुरुष श्री गुरुदेव निमित्तरूपे आपके समीप है; जिनकी निरन्तर ध्वनिका संकेत उनकी ओरसे लक्ष्य हटाकर, स्वकी अन्तरंग खानका लक्ष्य कराता है। जहाँसे यथार्थ न्याय सुख आदि उघड़ते रहते है। अतः स्वअस्तित्वमयी त्रिकाली आत्मामे पसर कर सुखास्वादन करो! जिस स्वादके वशीभुत देवादिक प्रत्ये भी उदासीनता होने लगती है। इनमे अर्थात् परमें एकान्त रस व जागृति होना स्वभावके अरसपनेका सूचक है। वर्तमानसे ही 'मै' परिपूर्ण सुखका सागर हूँ। वर्तमानमें ही देवादिकसे अथवा इन आश्रित रागसे किंचित् लाभ नही, लाभ मानना ही स्वका अलाभ है। यह न्याय, तीरकी तौर बाह्य वृत्ति लक्ष्य-प्रति असर करे तो वर्तमानमें ही स्वभावोन्मुख प्रयत्न होवे।...

शुद्धात्मस्नेही
निहालचन्द्र



- *सम्पूर्ण सिद्धातका सार का सार तो बहिर्मुखता छोड़कर अन्तर्मुख होना, वह है।*

– पूज्य गुरुदेवश्री

[३२]

कलकत्ता
१५-११-१९६२

ॐ

श्री सादर जयजिनेन्द्र।

आपका ता. १२-११-६२का पत्र मिला। अन्य लोगोंके चरित्रनिर्माण सम्बन्धी आपका दृष्टिकोण ख़यालमे रखते हुए नीचे स्पष्टीकरण लिखा है :

१. प्रथम तो मैं क्या हूँ व क्या कर सकता हूँ, इसका यथार्थ खुलासा होनेपर कार्यकी यथार्थ सीमा बँध सकेगी। मै आत्मा हूँ व परिणामका करना और उस ही परिणामको भोगना यह ही मात्र आत्माकी क्रिया है; इसके विपरीत स्वयंके जड़ शरीर आदिका व अन्य आत्माका परिणाम मै आत्मा नही कर सकता, कारण जड़के परिणामका कर्ता जड़ द्रव्य है व अन्य आत्माके परिणामका कर्ता वह आत्मा द्रव्य है। ("उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्")।

२. उक्त प्रकारका यथार्थ निर्णय हुए बाद परपरिणामके किंचित् भी कर्तापनेका अभिप्राय टूट जाता है। मै परका कुछ कर ही नही सकता, तब पराश्रित परिणाम क्यो करूँ, जो कि स्वयं आकुलतामय ही होते हैं। इन परिणामोंको स्वआश्रित करूँ तो शुद्ध ज्ञान-आनन्द व शान्तिमय परिणाम होगे व इनहीका भोगना होगा, जो कि वांछनीय है।

३. स्वमें अर्थात् ज्ञान-आनन्द आदि गुणोके भण्डार आत्मामे परिणामोको पसारते ही साधकपना व मुनिपना आदि क्रमपूर्वक आता है। परिणामोके इस प्रकारके प्रसरणमे ही यथार्थ ज्ञान, सुखादिका अनुभव उत्पन्न होने लगता है। जिसकी प्रत्यक्षतासे पराश्रित आकुलित परिणाम विषरूप मालूम होने लगते है, जो कि सम्यक्दृष्टि साधक व मुनियोको एक समय मात्रके लिये भी नही रुचते।

४. उक्त मान्यता व तद्रूप अनुभव होनेपर अनादिसे चला आया दृष्टिका मोह टूटता है। दृष्टिने जिस स्व अखण्ड स्व आत्माको लक्ष्य किया, उसमे एकसाथ परिपूर्ण परिणामका प्रसरण नहीं होता तब तक परिणामका

कुछ अंश अखण्डके साथ सुखरूप परिणमता है व उसही परिणामका कुछ अंश उदयके साथ पराश्रित दुःखरूप परिणमता है। साधक व मुनिके इस प्रकारका पराश्रित परिणमा हुआ रागअंश उपदेशादिकका कारण होता है। यह रागअंश चारित्रमोह है, आकुलतामयी है, यह हर समय हेय है, प्रत्यक्ष दुःखरूप है जो कि मुनियोको बिल्कुल रुचता नही व इसमे उन्हे रस आता नही। पुरुषार्थकी निर्बलतासे अखण्ड आत्माकी पूरी पकड़ चारित्र परिणाममे नही होनेसे ऐसा रागअंश होता है, जिसका निषेध प्रतिसमय उनकी दृष्टि करती रहती है। एक समयके लिये भी चारित्रमोहस्वरूपी रागअंशको वह अपना कर्तव्य नही समझते जो कि प्रत्यक्ष दुःखरूप है। अतः वारम्वार स्वमे स्थित होते हुए, रागअंशको तोड़ते हुए, वह शुद्ध सिद्धरूप हो जाते है।

५. मुनियोके रागांशनिमित्तक उपदेशमे उक्त आशयका संकेत होता है। अच्छी होनहारवाले जीवके वह निमित्तरूप पड़ता है और वह स्वयं भी उपदेशादिककी तरफ़से लक्ष्य हटाता हुआ, उपदेश आदिको मुनियोका कर्तव्य नही समझता हुआ, उनकी अस्थिरताका दोष समझता हुआ, उनपरसे वृत्ति हटाकर स्वज्ञानकी खानमे प्रवेश करने लगता है। अरिहन्तोके उपदेशमे निमित्त उनका राग नही है वरन् कम्पनकी अस्थिरता है।

६. राग व वीतरागता दोनो कर्तव्य नही हो सकते, कारण दोनो भाव परस्पर विरुद्ध है। अतः अन्यके चरित्रनिर्माणके कर्तव्यमे वीतरागी कर्तव्यका सहज ही अभाव है; साथ ही अन्यके परिणामका कोई कर्ता हो ही नही सकता चाहे मान्यता बनाकर स्वयं दुःखी होता रहे।

७. एक बार प्रथम सम्यक्त्व तो अधिगमज उपदेशके निमित्तसे ही होता है। दूसरे भवमें उन संस्कारोके निमित्तसे बिना उपदेश सम्यक्त्व प्राप्त करनेको नैसर्गिक कहते है। परन्तु स्वयं पराश्रित दृष्टि हटाकर, स्वआश्रित परिणाम करे तो उपदेशको निमित्त कहा जाता है, कर्ता नही। जिसकी योग्यता होवे उसको निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका सहज ही योग होता है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अनादिसे चला आता है व चलता रहेगा।

आशा है मुनियोके उपदेश सम्बन्धी विषयके उपरोक्त स्पष्टीकरणसे मेरा दृष्टिकोण आपके लक्ष्यमे आयेगा। दृष्टिदोष हटे बाद मुनियोको उपदेशका राग उनकी अस्थिरताका दोष है, कर्तव्य नहीं व इस दोषको स्थिरताका प्रयत्न करते-करते वह हटाते जाते हैं, कर्तव्य समझकर रखना नही चाहते।

आपका प्रोग्राम लिखे व पत्र देवें।

शुभैषी
निहालचन्द्र सोगानी



[३३]

कलकत्ता
९-१२-१९६२

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी धर्मस्नेह।

पत्र ता. २२-११का यथा समय मिला। "अस्थिरतासे देवादिक प्रत्येके परिणामोंमे खेद वर्तते व अखण्ड सद्भावरूप परिणमन होते हुए धर्मीजीवकी बुद्धिपूर्वक देवादिक प्रत्ये स्वरूप दृढ़ीभूत करनेके आशयकी प्रवृत्ति मुख्य तौरसे होती रहती है, ऐसा दिखता है" इस पर विशेष स्पष्टीकरण चाहा सो निम्न है :–

१. स्वरूपकी दृढ़ता देवादिक प्रत्येकी वृत्तिसे निश्चय ही नहीं होती।

२. मनआश्रित (विचारपूर्वक) मान्यतासे यथार्थ अखण्डआश्रित सहज आंशिकवृत्तिका सद्भाव (उद्भव) नही हो सकता।

३. त्रिकाली अस्तित्वमयी स्व, इस आश्रित परिणमी हुई आंशिक शुद्धवृत्ति व देवादिक प्रत्येकी आंशिक बाह्य वृत्ति – तीनो अंशोंका एक ही समय धर्मीको अनुभव होता है, जिसमे मुख्य - गौणका प्रश्न नहीं।

४. स्वके मापसे अन्यका माप किया जाता है। 'मैं' त्रिकाली ही हूँ,

इस अनुभवमे परिणाम मात्र गौण है, चाहे बुद्धिपूर्वक हो या अबुद्धिपूर्वक। ऐसे धर्मीको कभी परिणामकी मुख्यता नही होती। अतः उसे अन्य धर्मी जीवमें भी परिणामकी मुख्यता नही दिखाई देती; जैसे कि मात्र परिणाम देखनेवालेको प्रवृत्तिकी मुख्यता दिखती है।

५. धर्मी, अधर्मीके भी त्रिकाली व वर्तमान दोनोंको एक साथ देखता है। त्रिकालीका अभान होनेसे अधर्मीको परिणाम मात्रमे एकत्व होता है, इसका धर्मीको ज्ञान रहता है।

६ वृत्ति अपेक्षा त्रिकालीकी मुख्यतावाले धर्मीको सहज ही इस मुख्य आश्रित वृत्तिकी ही मुख्यता रहती है, वर्तती है; चाहे बाह्यांशमें बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति हो।

७. त्रिकाली तो प्रवृत्ति - निवृत्तिरूप परिणामका ही कर्ता नहीं है। परिणामका कर्ता परिणाम ही है, यह अपेक्षा भी अपनी चर्चामें आई ही थी।...

धर्मस्नेही
सोगानी



[३४] कलकता
३०-१२-१९६२

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

धर्मस्नेही शुद्धात्म सत्कार।

आपका ता. २४-१२ का पत्र मिला।

आपने वांचन-विचारणा वास्ते लिखा सो त्रिकाली अखण्ड ज्ञानानन्द स्वभावमें अस्तित्वरूपी श्रद्धाकी यथार्थ व्यापकता निरन्तर कायम रहे, जहॉंके अनुभवमे परिणाम मात्रके अकर्तापनेका सहज अनुभव होता रहे। परिणामका कर्ता परिणाम अंश है, 'मै' त्रिकाली अंश नही।

इस प्रकारके एक ही समयमे परिणामका कर्ता व अकर्तापनेके अनुभवकी वृद्धि होते-होते पूर्ण ज्ञानका सहज ही अनुभव होगा, यही वांचन व विचारणा है।

आशा है आप भी आत्मस्वास्थ्य सहज वृद्धि करते रहेंगे। यहाँ योग्य कार्य लिखें।

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र



[३५]

कलकत्ता
२१-१-१९६३

आदरणीय श्री सादर जयजिनेन्द्र।

आशा है आप वहाँ कुशल होगे। कुछ दिनो पहले आपका कार्ड यथासमय मिला था।...आशा है अध्ययन आदि चल रहा होगा। Retiredlife मे पहले के मुक़ाबिले मानसिक बोझा हल्का महसूस करते होंगे। सोनगढ़की ओर जानेका भी प्रोग्राम कब है? धार्मिक ग्रन्थोमे किन-किन ग्रन्थोंका स्वाध्याय चल रहा है?

ज्ञानभण्डार आत्मामेसे ज्ञान उघड़ता रहता है, शास्त्रोसे नही; यह अलौकिक सिद्धान्त विचारणीय है। उत्तर क्षणमे क्या परिणाम होगा, उसका वर्तमान क्षणमे हमे ज्ञान नही, तो भविष्यके लिये क्यो व्यर्थकी कल्पना? परिणामके अलावा शरीरादिककी क्रियामे तो हमारा कोई कर्तृत्व है ही नही। तो फिर इनके आश्रित विभावपरिणामोका व्यर्थ क्यो बोझा लादा जाये? उद्देश्यका निर्णय करना सहज परन्तु उसकी प्राप्तिमे समय अधिक लगता है। यथार्थ निर्णयके बाद ही यथार्थकी प्राप्ति होती है। अनुभूति ही यथार्थ निर्णयकी निःशंकता बता सकती है। चूँकि आपका समय अब अध्यात्मकी तरफ़ अधिक लगेगा अतः चन्द बाते ऊपर सहज ही लिखी गई है।

आगेका प्रोग्राम लिखे।

शुभैषी
निहालचन्द्र सोगानी



[३६]

कलकत्ता
२७-२-१९६३

ॐ

श्री सद्‌गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी   धर्मस्नेह ।

मालूम होता है कारणवशात् निहालभाईके क्षणिक व्यवहारसे विरक्ति हो गई है । विरक्ति तो सदैव उपादेय ही है व सहज विरक्ति मुमुक्षुओका ध्येय भी है ।

पूज्य गुरुदेवश्रीकी ऑखमे 'नीडलीग'की आवश्यकता नही रही, जानकर आनन्द हुआ । व पूज्यश्री का फाल्गुन सुद ६ से तीन माह वास्ते सौराष्ट्रमे विहार होगा, जाना । पुण्ययोग होनेसे उनके दर्शन, प्रवचनका पुनः लाभ मिल सकेगा ।

आपकी दी हुई 'वनारसी विलास' पुस्तकका वांचन चल रहा है । लिखा है : –

"एक निगोद शरीरमे ऐते जीव वखान
तीन कालके सिद्ध सब एक अंश परिमान ।"
"सो पिण्ड निगोद अनन्तरास, जियरूप अनन्तानन्त भास,
भर रहे लोक नभमे सदीव, ज्यों घड़ा माहि भर रहे घीव ।"

केवलीगम्य यह अनन्तता साधकके अनुमानगम्य ज्ञानमे प्रत्यक्षवत् है । निष्कम्प गम्भीर ध्रुवस्वभावआश्रये सहज ऊण्डे-ऊण्डे उतरते-उतरते यह ज्ञान हम सवको प्रत्यक्ष होवे, यह ही भावना ।

धर्मस्नेही
निहालभाई



● *आत्म वस्तु जो ज्ञानानन्द सहजानन्द प्रभु है, उसका जिसे ज्ञान हुआ उसे आत्मा भासित होती है ।*

– पूज्य गुरुदेवश्री

[३७]

कलकत्ता
११-३-१९६३

श्री सादर जयजिनेन्द्र।

पत्र आपका मिला था...। 'ज्ञान-ज्ञेय स्वभाव' पुस्तक अच्छी है। अखण्ड त्रिकाली ज्ञानस्वभावको ज्ञेय बनाकर, इस आश्रय एकाग्र हुआ ज्ञानपरिणाम, विभावअंशसे भिन्न रहता हुआ, विभावको परज्ञेयकी तरह जानता देखता है — यह ही भेदज्ञान है। साधकको एक ही समयमे, एक ही परिणाममें दोनो प्रकारका भिन्न-भिन्न अनुभव होता है व अनाकुल ज्ञानभावका आकुलित विभावअंशसे पृथक् स्वादका प्रत्यक्ष अन्तर भासित होता है।...

सोनगढ़से अभी गुरुदेव राजकोट गये हुए है। कमसे कम एक माह तक आप उनके नज़दीक रहनेका प्रोग्राम बना लेवे तो अत्यधिक सार्थक होगा।

शुभैषी
निहालचन्द्र



[३८]

बम्बई
१३-४-१९६३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

धर्मस्नेही शुद्धात्म सत्कार।

मै एक सप्ताहसे बम्बई आया हूँ।

सौराष्ट्रमे मेरा फ़िलहाल जाना नही हो सकेगा। अभी तो कलकत्ता ही रहना होता दिखता है। आपका उधर कोई कार्यवश आना होवे तो मै आशा करता हूँ मै अवश्य आपसे मिल सकूँगा। आप आनेकी सूचना कलकत्ता लिख देवें। यदि मेरा अजमेर, देहलीकी तरफ़ आना होगा तो मै अवश्य आपसे मिलूँगा। बाह्यनिमित्त व निमित्त आश्रित निजभावसे

कोई भी लाभ नही होता है। — यह सिद्धान्त लक्ष्यमे रखकर, निज त्रिकाली अपने स्थित स्वभावमे ही परिणति स्थित होती जावे, ऐसी अनुभूति प्राप्त होना श्रेयस्कर है। अभी जल्दीमे पत्र बन्द करना पड़ रहा है।

आपके वात्सल्ययुक्त अनुराग भरे पत्रको देखकर कुछ धार्मिक विषयपर भी लिखता, परन्तु आज जानेके पहले भी जल्दी है। अतः फिर कभी लिखना हो सकेगा।

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र



[३९]

कलकत्ता
२०-४-१९६३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी शुद्धात्म सत्कार।

पत्र ता. १७-४ का आपका मिला। अलौकिक पूज्य गुरुदेवके दर्शनार्थ आप जोरावरनगर, दहेंगॉव आदि जा रहे है, जानकर चित्त प्रसन्न हुआ। दहेगॉवके श्री भीखाभाई मुझे मिले। वहॉ पहुँचने वास्ते उनका आग्रह भी था। पुण्ययोगसे ही श्री गुरुदेवके सान्निध्यमे रहना होता है।

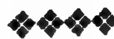
"निःशंक निर्णयके लिये किस प्रकार रटन, पुरुषार्थ आदि होना चाहिए" लिखा, सो अपने अस्तित्वकी यथार्थ समझमे सब ही बाते गर्भित है। प्रमाणज्ञानका विषय नित्य व अनित्य अथवा त्रिकाली ध्रुव व क्षणिक परिणामी वस्तु एक ही साथ 'मै' हूँ। दोनो प्रकारका अनुभव एक ही समय होनेपर निःशंकता हो जाती है। संसारी (अज्ञानी) जीवको कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप मात्र परिणामके वेदनकी प्रसिद्धि है, उस ही समय त्रिकालीरूप स्व अस्तित्वकी नही।

परिणाममेसे अस्तित्वपनेकी श्रद्धा हटाकर, त्रिकाली ज्ञानानन्द आदि अनन्त गुणोके देहाकार असंख्यात प्रदेशी निजपनेमे श्रद्धाकी पर्यायको

एकाकार व्यापक करते ही नित्यपनेका, निज अस्तित्वपनेका प्रति समय अनुभव होता है।

'अपरिणामी, नित्य, त्रिकाली, ध्रुव बिम्ब मैं हूँ', क्षणिक परिणाम नहीं' – यह श्रद्धाका विषय है। श्रद्धा एक ही समयमें पूर्ण त्रिकालीको पकड़कर अभेद हो जाती है। यहाँ अस्तित्वकी स्थापना होते ही 'मै' परिणामके साथ नहीं परिणमता। परिणामका कर्ता परिणाम ही है, 'मै' तो अपरिणामी वर्तमानमें ही परिपूर्ण हूँ। वर्तमानसे ही मुझे कुछ करना-कराना नहीं है। रटन, पुरुषार्थ, ज्ञान आदि सब परिणाम है। इनसे मुझे लाभ-हानि नही। मेरी अपेक्षासे यह स्वयं होते है।'मै' अविचल हूँ। इन परिणामोसे विचलित नही होता। इनसे पृथक् व अधिक हूँ। अपेक्षासे मेरे गर्भमें होते हैं। पर 'मै' इनमे एकमेक नही होता। दर्पणका त्रिकाली दल, एक समयकी दर्पणाकार पर्यायसे भिन्न ही रहता है। दोनो कार्य एक समयमे है। यदि दल एक समयके आकार-पर्यायमें आ जाये तो त्रिकालीपनेका नाश हो जाता है। अतः त्रिकाली ध्रुव नित्य वस्तुमे – अपने अस्तित्वपनेमे श्रद्धाकी व्यापकता करते ही सब कार्य सहज स्वभावरूप अनुभव होने लगता है। वर्तमानसे ही मुझे कुछ नही करना है, ऐसे 'मैं-पने'की यथार्थ अभेद प्रतीति होते ही चारित्र-पुरुषार्थ आदिके सब परिणाम सहज ही 'मैं त्रिकाली'का अनुसरण करने लगते है व शुद्ध होने लगते हैं। परिणामोमे उलट-फेर करनेकी दृष्टि असम्यक् है। इस क्रियासे जब ही हट सकते है कि इनसे भिन्न अपरिणामी वस्तुमे – निश्चलरूप वस्तुमें निश्चल रहें। निश्चय स्व-सत्का संग होना ही पूज्य सद्गुरुदेवके संगका फल होना चाहिए। वर्तमानमे ही परिपूर्ण हूँ तो वर्तमानसे ही किसीसे भी लाभ व नुकसान नहीं है।

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र



[४०]

कलकत्ता
४-७-१९६३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी शुद्धात्म सत्कार।

आपके पत्र दहेगॉव व देहली दोनों स्थानोसे मिले। मै क़रीब एक माहसे बाहर था। पन्द्रह दिन क़रीब बम्बई भी रहना हुआ। पुण्ययोगके अभावसे, महाराज साहबका सोनगढ़ लौटनेका प्रोग्राम लम्बानेसे, सोनगढ़ जानेका सोचा हुआ मेरा प्रोग्राम रुक गया। आप हर पत्रके साथ पतेका ख़ाली लिफ़ाफ़ा भिजवाते हो, अब ऐसे नही भेजे, पता मैने नोट कर लिया है। लिखनेका विकल्प ओछा होनेसे जवाबमे देर होती है। परन्तु लिखना, विकल्प होना क्रियाये तो मुमुक्षुओको हेय बुद्धिसे सदैव सहज गौण ही रहती है। यह क्रियाये तो आचार्योने उन्मत्तोंकी कही है। पत्र बहुत ही विनयभरे आते हैं। विनयभावोका एकान्त वेदन नही होना चाहिये। सहज सामर्थ्यमे पसरनेसे, स्वरूपके बलसे, सहज ही परिणामोमे नही घसीटीजेगे; वह परिणामोका वेदन, ज्ञायकभावकी मुख्यतामे हेय बुद्धिए गौण (क्षणे-क्षणे) होता जायेगा। पराश्रित विनयभाव दुःखभाव है, उपादेय कैसे होवे ?

द्वादशांगका सार तो श्री गुरुदेवने फ़रमाया है कि : "वर्तमानमें ही मूल, कायमी, त्रिकाली, ध्रुव स्वभाव, परिणामोंका विश्रामधाम 'मै' हूँ। इस स्थानमे दृष्टि पसारकर, स्वयं व्यापक होकर, परिणामोकी पकड़ छोड़ दो, इन्हे सहज ही परिणमने दो, इनमे अटको नही। परिणमन स्वभावके समय ही अपरिणामी स्वभाव भी साथ ही साथ है। इस अपरिणामी स्वभावको नित्य पकड़े रहो, यहॉ जमे रहो; इसके बिना निस्तार नही है। पत्रादिकका आधार, शास्त्राधार, अरे ! प्रत्यक्ष तीर्थंकरकी आधारबुद्धि भी स्वयं वर्तमान सामर्थ्यका अनादर करनेवाली है।" ऐसा कह कर ही परम कृपालु गुरुदेवने वर्तमानसे ही उनपरसे दृष्टि हटाकर, अघट-बढ़ त्रिकाली सदृश्य सामान्यस्वरूपमे अपना अड्डा जमाकर निश्चल बिराजनेको कहा है।

उनके ऐसे सिहनादरूप उपदेशको पाकर भी फिर दीनता क्यों ? वर्तमानमे ही अपने सिह स्वभावको – अनन्त शक्तियोंके धामको सम्भालो ! दीन विकल्प निराश्रय होकर टूटते जावेगे, जड़ कर्म बिखरते जायेगे, सुख-शान्तिका प्रत्यक्ष वेदन क्षणे-क्षणे बढ़ता जायेगा ।

बम्बईमे नागरभाई आदि मुमुक्षुओंसे भी मिलना हुआ था । आपका ज़िक्र भी आया था ।

निरन्तर अविच्छिन्न धाराए स्वरूपसुखमे मग्न रहो । इससे च्युति करानेवाले विकल्प, विशेष विशेष मग्नता होते-होते, ढ़ीले पड़ते-पड़ते क्षय हो जायेंगे । ऐसा ही श्री गुरुदेवका अलौकिक उपदेश जयवन्त वर्तो !

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र सोगानी



[४१]

कलकत्ता
१४-७-१९६३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी शुद्धात्म सत्कार ।

गत माह आपका पत्र आया था, तब मुझे बम्बईमे यहाँसे Redirect हो कर मिला था । इसके पहले क़रीब जनवरीमे पत्र आया था ।...

तत्त्वदृष्टिए, स्वभावबलमे जमते ही आना-जाना व न आना-जाना, जुदे ज्ञानमें सहज ही मोहभाव प्रतिभासित होते है; यह मोहभाव त्रिकालमे पौद्गलिक ही है, तो इनकी पकड़ क्यो ? यह हमारे हैं ही नही । – ऐसा इनसे भिन्न अनुभव, मात्र हमारा लक्ष्य हो जाना चाहिए ।

"भेदज्ञानसे भ्रम गयो, नही रही कुछ आश,
धर्मदास क्षुल्लक लिखे, अब तोड़ मोहकी पाश"

पूज्य श्री गुरुदेवके उपदेशका सार, द्वादशांगका सार तो केवल एक ही है कि 'अपने त्रिकाली स्वभावमें जैसे-तैसे भी होवे दृष्टि पसारकर

विराजमान हो जावो' ! क्षणे-क्षणे पदे-पदे वीतरागी ज्ञायकरसमे ऐसी मग्नता बढ़ती जायेगी जिसका विच्छेद एक क्षण भी नही गमेगा ।

योग नही होनेसे, महाराज सा०का सोनगढ़ लौटनेका प्रोग्राम लम्बाजानेसे, बम्बईसे सोनगढ़ आनेका मेरा प्रोग्राम बदला गया । पुण्ययोग होनेपर, दशहरेके आसपास आनेका विकल्प है । आप सदैवानुसार पूज्य गुरुदेवश्रीकी अमृतवाणीका लाभ लेते होगे । जिसका तात्पर्य उनकी ओरसे दृष्टि उठवाकर, पलटवाकर, निज अमर्यादित अमृत-खानमे व्याप्त कराना है ।

शेष मिलने पर ।

सर्व सगसे असग होनेका इच्छुक
निहालचन्द्र



[४२]

कलकत्ता
२१-८-१९६३

ॐ

परम उपकारी श्री सद्गुरुदेवको वन्दन !

धर्मस्नेही शुद्धात्म सत्कार ।

आपका पत्र आज मिला । परम उपकारी श्री गुरुदेव सुख-शान्तिमे है व उनकी अमृतमयी धोधमार वाणीका आप लोग अपूर्व लाभ ले रहे है, जानकर सहज प्रसन्नता हुई ।

आपका राजकोटवाला पत्र यथासमय मिल चुका था, बहुत उत्साह भरा था; परन्तु मेरा पुण्य ऐसा कहॉ कि पूज्य गुरुदेवकी वाणीका बारम्बार लाभ होवे । आपके पत्रोमे मेरे वहॉ आनेके लिये ही मुख्यतया तीव्र अनुरोध रहता है; आनेकी योग्यता नही होती तो क्या जवाब दूॅ ? सोनगढ़ आनेका लक्ष्य रखकर बम्बई तक आना हुआ, परन्तु महाराजश्रीके विहारसे लौटनेकी तिथिमें अकस्मात् बार-बार फेर पड़ा अतः वापस बम्बईसे ही लौटना पड़ा ।

आपका लिखना कि "सांसारिक विकल्प पण थाय छे, अने कार्य पण थाय छे, निवृत्ति इच्छनारने मात्र सोनगढ़मां ही वास होय " आदि – इसका क्या अपेक्षित जवाब देऊँ ? यहाँ तो पूज्य गुरुदेवने आत्मगढ़मे वास कराकर प्रसाद चखाया है, अतः क्षणिक विकल्प भी सहज विस्मरण होते रहते हैं। कहता हूँ कि : हे विकल्पांश ! तेरे संग अनादिसे दुःख अनुभव करता आया हूँ, अब तो पीछा छोड़ । यदि कुछ काल रहना ही चाहता है तो सर्वस्व देनेवाले परम उपकरी श्री गुरुदेवकी भक्ति-सेवा-गुणानुवादमे ही उनके निकट ही वर्त ! इस क्षेत्रमे तो अधिक दुःखदायी है । चूँकि गुरुदेवने इसकी उपेक्षा कराकर इससे विमुख करवा दिया, अतः यह भी लम्बाकर साथ नही देता ।

"जैसो शिवखेत बसै, तैसो ब्रह्म यहाँ बसै,
यहाँ-वहाँ फेर नाही, देखिये विचारके "।

मेरे प्रति आपका अनुराग ज्ञानमे है । पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि तुम स्वयं अक्रिय चैतन्य ढीम हो, इस अगाध सागरका सहज अनुराग करो । पराश्रित अनुराग तो एकांते दुःख है । सुखाभासी होकर इसके रसको लम्बाना उचित नही । अपने तो एकान्त सहज ज्ञान-सुखसे लबालब व ठसाठस चैतन्य ढीम बनकर जमे रहो । विकल्प व निर्विकल्प जैसी भी अवस्था होवे, होने दो ।

"करता करम क्रिया भेद नही भासतु है,
अकर्तृत्व सकति अखण्ड रीति धरै है, ।
याहीके गवेषी होय ज्ञानमाहि लखि लीजै,
याहीकी लखनि या अनन्त सुख भरै है" ।।

वहाँ ठहरने-ठहरानेके विकल्पजालको लम्बानेसे क्या लाभ ? विकल्पानुसार क्रिया होना आवश्यक तो नही । जैसा योग है, हो जायेगा । चिन्ता तो ओछी ही अच्छी है । निकट भविष्यमे वहाँ आनेका विचार अवश्य है । परन्तु सदैवकी टेव अनुसार प्रोग्राम अकस्मात ही बनता है अतः समय लिखनेके अयोग्य हूँ ।

विकल्परसमे अनुभवरसका अभाव है । एक की ओर झुककर लम्बानेसे

दूसरेका अभाव होता है।

"गुण अनन्तके रस सबै, अनुभौ रसके माहि।
यातै अनुभौ सारिखो, और दूसरो नाहि"॥

विशेष मिलने पर।

— असगताका इच्छुक



[४३]

कलकत्ता
१०-९-१९६३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी

आपका कई दिनों पहले पत्र आया था। श्री 'पञ्चाध्यायी'की दर्शन-ज्ञान विषयकी गाथाओका ज़िक्र था। पुस्तकका यहॉ सहज योग नही हो सका। सोनगढ़मे अपेक्षावत् इस विषयकी समाधान चर्चा हुई है, ऐसा स्मृतिमे है। आपको वहॉसे समाधान हो सकेगा, जानने पर खुलासा लिखे। चैतन्यप्रतिमा व चेतनपरिणतिके स्वतन्त्र-स्वतन्त्र अस्तित्वकी यथार्थ कबूलात कर चैतन्यप्रतिमामें अपना स्थापन करते ही परिणति प्रतिमाका आलिगन करने लगती है, जो इष्ट है।

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र



- *ध्रुववस्तु स्वय ध्रुववस्तुको नही जानती है परन्तु पर्यायमे ध्रुववस्तु जाननेमे आती है।*
- *कारणपरमात्मा ही यथार्थतया मोक्षमार्गका हेतु है।*

— पूज्य गुरुदेवश्री

[४४]

कलकत्ता
१०-९-१९६३

ॐ

अज्ञानतिमिरान्धाना ज्ञानाजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलित येन तस्मै श्रीगुरवे नम ॥

आत्मार्थी

पत्र आपका ता. ३-९ का मिला। पहलेवाला पत्र भी यथासमय मिल गया था। दशलक्षणी पर्व, आपने तीन लोकमें परम उत्तम, निर्भय बनानेवाले, परम निर्भय, सिंहस्वरूप श्री गुरुदेवके सान्निध्यमें मनायें होगे। वह कहते हैं – "स्वभावअंशमें किंचित् भी दोष नहीं है, नित्य स्वभावमे दृष्टि थम्भ जानेसे, उत्पन्न हुए सहज स्वभावमें, क्षमा आदि दूषित भाव प्रत्यक्ष पराश्रित (जड़के) परके हैं; अतः सहज क्षमाभाव त्रिकाल जयवन्त वर्तो! हमने कभी दोष किया ही नहीं, ऐसा स्वभाव निरन्तर वृद्धि पामो। विभावकी गूँजमें गूँजता हुआ अज्ञानभाव सहज नाश पामो। विभावमे तनीजो नही। स्वभाव-सीमामे निरन्तर अडिग जमे रहो। क्षणिक विभाव वेदीजता हुआ अधिककी सीमाको पार नही कर सकता, अतः वहीं लय हो जाता है।"

"करता करम क्रिया भेद नही भासतु है,
अकर्तृत्व सकति अखण्ड रीति धरै है।
याहीके गवेषी होय ज्ञानमाहि लखि लीजै,
याहीकी लखनि या अनन्त सुख भरे है" ॥

ज्ञान कणिका पत्र द्वारा मँगवाई सो यह तो आपके पास ही है। स्वअवलम्बनसे सहज ही विभावसे पृथक् होकर प्रगटती रहती है। हे शशीभाई! अनेकानेक जीवोकी योग्यता अक्षय सुखके उदयकी है, अतः तीर्थंकरसे भी अधिक सत्पुरुषका योग प्राप्त हुआ है, जिनकी नित्य प्रेरणा उधरसे विमुख कराकर स्वयं के नित्य भंडारकी ओर लक्ष्य कराती रहती है; यहाँसे ही पूज्य गुरुदेवके न्याय अनुभवसिद्ध होकर दृढ़ता प्राप्त कराते हैं।...

"जिन (निज) सुमरो जिन चिन्तवो, जिन ध्यावो सुमनेन।
जिन ध्यायतहि परमपद, लहिये एक क्षणेन" ॥

वात्सल्यानुरागी
निहालचन्द्र



[४५] कलकत्ता
२६-६-१९६२

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी शुद्धात्म सत्कार ।

आप लोगोको तत्त्वकी स्वयंकी रुचि बढ़ रही है, अतः तत्त्वचर्चामे प्रमोद होता है । जो पत्रमे लिखा है । अब तो सुनने-सुनानेमे भी थकान मालूम होने लगे, ऐसी परिणति जागृत होनी चाहिए । सो नित्य सुखधाम स्वक्षेत्रमे अडिग जमते ही उत्पन्न एकान्त सहज सुखमें प्रत्यक्ष अनुभव होगा । कुछ करना-कराना नही है, मात्र स्व अस्तित्वमें दृष्टि पसारकर एकान्ते थम्भ जाना है । ध्रुव ज्ञानानन्दमूर्ति अनन्त गुणोकी खान हूँ । परिणमन क्रियाएँ सहज हो रही है । प्रतिसमय नित्य व क्षणिक दोनो भावोका एक ही समय सहज अनुभव वर्तता रहे, ऐसा परम उपकारी श्री गुरुदेवका वाच्य है; सो अभ्यास वर्तो । मात्र क्षणिक वेदन ही नही प्रतिभासो ।

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र



[४६] कलकत्ता
२७-९-१९६३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी शुद्धात्म सत्कार ।

श्री लालचन्दभाईकी परिणतिमे मुख्यतया अध्यात्ममन्थन चलता है । अभी बम्बईमे आए भाईयोके पत्रमें भी पूर्व अवसरके उनके वहाँके वांचनमे ऐसी परिणतिका ज़िक्र आया है । अतः चित्त प्रसन्न होता है । उन्हे, डॉ. चन्दुभाई व अन्य सब मिलनेवाले साधर्मी भाईयोंसे मेरा धर्मस्नेह कह ।

यही भावना है कि परम उपकारी श्री गुरुदेवकी छत्रछायामें हम सब मुमुक्षु अपने नित्य स्वक्षेत्रमें अडिग जमे रहें। जिस (स्वधाम)की अपेक्षा परिणाम मात्र केवलज्ञानादि परतत्त्व हैं। ऐसा होते ही नित्य व क्षणिक दोनों भावोंका अनुभव प्रतिसमय एक ही काल होता रहेगा, जो कि गुरुदेवका अभिप्राय है।

"करता करम क्रिया भेद नही भासतु है,
अकर्तृत्व सकति अखण्ड रीति धरै है।
याहीके गवेषी होय ज्ञानमाहि लखि लीजै,
याहीकी लखनि या अनन्त सुख भरै है॥"

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र



[४७]

कलकत्ता
१७-१०-१९६३

ॐ

चैतन्यमूर्ति श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी शुद्धात्म सत्कार।

पत्र आपके समय-समय पर तीन मिले। अब मेरा शारीरिक स्वास्थ्य ठीक है। क़रीब १ माह पलंग पर रहना हुआ। चिन्ता अथवा राग तो स्वयंको हानिकारक है। स्वमें अथवा परमें अकार्यकारी है। अतः हर समय स्वभाव-बलसे सहज निषेधपूर्वक होवे तो(भी विकल्पका) फल आदरणीय नहीं हो सकता।...

इन दिनो साधर्मी भाईयोका पत्र व्यवहार कुछ बढ़ा है। परन्तु सहज विकल्प निमित्ते जवाब लिखीज जावे वह ही अच्छा है। अतः जवाब देरी आदिकी प्रतीक्षा अधिक नही रखना ही अच्छा है।

आशा है परम उपकारी श्री सद्गुरुदेव सुख-शान्तिमे विराजते होगे। इस माहके गुजराती 'आत्मधर्म'में अनुभव रसकी भागी हुई वाणी व प्रसन्न

मुद्रा देखकर चित्त डोल उठा। आपने फ़रमाया है :–

"अमारो के.(केवल) ज्ञाननो ध्वज फरकी रह्यो छे। केवल ज्ञाननो झण्डो फरकावता-फरकावता अल्प काले मोक्षमां जशुं।" – इन वचनोको वारम्वार रस लेकर भी वृत्ति तृप्त नही हुई।

अधिक क्या लिखूॅ ? पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि "ज्ञानीने रागादि भावो पोताना स्वभावपणे ज़रा पण भासता नथी, स्वरूपनी वाहर ज भासे छे"– यही वेदन हम सवको दृढ़तर होता जावे, यह ही भावना।

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र सोगानी



[४८]

कलकत्ता
२३-१२-१९६३

आत्मोन्मुखी शुद्धात्म सत्कार।

यहॉ पहुॅचने पर आपका आया हुआ पत्र देखा। भगवान श्री जयसेन आचार्यकी गाथा ३३८-३९की टीकामेसे 'अपरिणामी' सम्वन्धित लाईने आपने उद्धृत कर लिखी, उन्हे वांचकर वहुत ही प्रमोद हुआ।

सांख्यानुसारी शिष्य, अभिप्रायमे निश्चय-व्यवहारमयी आखे प्रमाणरूप अनेकान्तस्वरूप द्रव्यको एकान्ते अपरिणामी समझकर, जैनागममें भी शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे जीवको अपरिणामी कहा गया है, ऐसा कहता है – जिसका समाधान आचार्यदेवने किया है : "परन्तु व्यवहारनयसे परिणामी है," "शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे अपरिणामी है"। इस वातको रखकर, व्यवहारअंग नही समझनेवाले शिष्यको 'परन्तु' शव्द मूककर परिणमनरूप व्यवहार भी वताया है।

'निष्क्रिय' भाव व शव्द के लिये आपने आचार्यश्रीकी गाथा-३२० की टीका वहॉ वताई थी व पूज्य गुरुदेवश्रीके मुखारविन्दसे सोनगढ़में भी रात्रि चर्चा समय इसका स्पष्टीकरण हुआ था।

इस प्रकार निष्क्रिय व अपरिणामी, त्रिकाली-सदृश्य परम शुद्धनयका

विषय — दृष्टिका विषय — द्रव्य मै हूँ, इसका आगम आधार तपासकर आपने बताया, इससे बहुत आनन्द हुआ ।

श्री योगीन्द्रदेवके 'परमात्मप्रकाश' श्लोक न. ६८ पर श्री ब्रह्मदेवकी टीका, पं. दौलतरामजीके अनुवाद सहित, को शीघ्र देखूँगा । साथ ही श्री जयसेन आचार्यकी 'टीका-प्रति' यदि यहाँ मिल गई तो उक्त गाथा सहित पूरी देखनेका विचार है । जो कि पहले मेरी देखी हुई नही है ।

अत्रुटक भावे सहजानन्दमे मग्न रहो, यह ही भावना है ।

मोक्षेच्छुक
निहालचन्द्र



[४९] कलकत्ता
२७-१२-१९६३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी शुद्धात्म सत्कार ।

आपका पत्र यथा समय पर मिला था । कई प्रकारके प्रश्न लिखे, जिन सम्बन्धित योग्यतानुसार संक्षिप्त खुलासा लिखता हूँ :

१. स्वद्रव्यसे, परसे अथवा क्षणिक योग्यतासे ज्ञान* —

सर्व समाधानोंका भण्डार त्रिकाली चैतन्यद्रव्य वर्तमानमें ही हूँ; इसमे दृष्टि अभेद होते ही, प्रश्नरूप विकल्पकी, विकल्पांशसे जुदी स्वआश्रित सहज जानन क्रिया होती है, वह क्रिया स्वयं ही समाधान रूप है । जिसमे प्रश्न लम्बानेका अभिप्राय नहीं रहता ।

यथार्थ उक्त दृष्टि पश्चात् योग्यताका वास्तविक भाव समझमें आता है । योग्यता स्वयं सत् अहेतुक है; जिसको निश्चये न स्व द्रव्य कारण है न पर । यह अपरिणामी द्रव्यदृष्टि समय-समयकी योग्यतामें फेरफारकी बुद्धि नही रखती व योग्यता भी दृष्टिके अभेद विषयकी ओर समये-समये वृद्धिगत

---

* इस विषयके स्पष्टीकरणमे अध्यात्म व द्रव्यनुयोग सबंधित ग्यारह सिद्धांत समाहित हैं ।

उन्मुख होते-होते पूर्ण समाधानरूप अभेद हो जायेगी, ऐसी निःशंक प्रतीति इस दृष्टिमे गर्भित है ।

मुनिराज, आचार्य भगवानके पास समाधान हेतु जाते है; उस समय भी प्रश्न-विकल्पसे छिटकी हुई जानन क्रिया उनको वर्तती रहती है । परन्तु कचासरूप अशक्तिके कारण प्रश्न-विकल्प क्षणिक लम्बानेसे प्रश्न-क्रिया होती है । समाधान बाह्यसे होगा ही अथवा होना ही चाहिए, ऐसा अभिप्राय मुनिश्रीके प्रश्न-विकल्प समय नही वर्तता ।

इस विषयके स्पष्टीकरणमे अध्यात्म व द्रव्यनुयोग संबंधित ग्यारह सिद्धांत समाहित है ।

२. श्रद्धा व ज्ञान –

श्रद्धा व ज्ञान भिन्न-भिन्न गुणकी स्वतन्त्र एक ही काले अहेतुक पर्याये है । मृतक वेश्याका चित्र दृष्टान्तरूपे पुस्तकोमें है । भिन्न-भिन्न श्रद्धावाले चार जीवोंको ज्ञानमे निमित्तरूप तो एक ही विषय है परन्तु श्रद्धान भिन्न-भिन्न प्रकारका होनेसे भिन्न-भिन्न परिणति है । निश्चयसे एक ही जीवको एक ही काले श्रद्धा व ज्ञानकी स्वतन्त्र अहेतुक परिणति होती है जो कि एक दूसरेको अकारणीय है । कार्य होनेपर ज्ञान श्रद्धानका कारण हुआ अथवा श्रद्धान ज्ञानका कारण हुआ, ऐसा सम्बन्ध बताया जाता है । ग्यारह अंगधारी मिथ्यादृष्टि धारणाज्ञानमे तत्त्वको परोक्षरूपे यथार्थ जानता है परन्तु श्रद्धाकी पर्यायमें, रुचिमे, उसको अभेद पकड़कर प्रत्यक्ष नही करता अतः दृष्टि मिथ्या बनी रहती है ।

३. पुरषार्थ –

'स्वरूपनी प्यास.' प्यास स्वयं पर्याय-स्वभाव है । वीर्य गुणकी पर्यायमे सदैव पुरुषार्थ होता रहता है । नित्य, सहज, निष्क्रिय, त्रिकाली द्रव्यमे दृष्टि अभेद होनेपर जो पुरुषार्थ होता रहता है, वह स्वआश्रित सहज ज्ञानानन्दी पुरुषार्थरूप पर्यायस्वभाव है । विकल्पात्मक पुरुषार्थ, असहज, कृत्रिम पुरुषार्थ है । सहज द्रव्यस्वभावकी अरुचि होनेसे पर्यायमे सहज पुरुषार्थ नही उघड़ता; अतः मिथ्यादृष्टि नियतवादी एकान्ते कृत्रिम पुरुषार्थ करता रहता है । इस ही कारण

'थवानुं हशे तेम थशे' इस आशयको कहनेका वह यथार्थ अधिकारी नही है। उसके अभिप्रायमे फेरफारकी बुद्धि तो पड़ी रहती है। उसकी स्वतन्त्र योग्यता निरन्तर परावलम्बी वर्तती है व उसे उसमें उत्साह बढ़ता रहता है। यह बात स्वद्रव्य-अवलम्बन करनेवाला ज्ञानी यथार्थ जानता है।

४.(मिथ्यादृष्टि) संसारी जीव स्वरुचि अनुसार अपनी रसपूर्तिके हेतु अमुक परको जानता है; अतः इष्ट प्राप्तिमे बाधक कारणोंसे द्वेष करता है। इसका कारण मात्र परावलम्बी रुचि ही है, अन्य नही।

हम सब नित्य स्वका संगरूप वर्तन करें, यह ही भावना है।

– निहालचन्द्र



[५०]

कलकत्ता
२-१-१९६४

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी . शुद्धात्म सत्कार।

आपका ता. १८-१२-६३ का पत्र यथासमय मिला था। मै यहाँ १७-१२ को वापस पहुँचा था। मार्गमे अधिक रुकनेसे दिल्ली नही ठहर सका था।

नित्य शुद्धात्मस्वभावमें दृष्टि अभेदकर, तादात्म्यकर, निर्विकल्पकर, सहज अहम्‌पनेसे स्वमूर्तिकी स्थापना करो ! देह, मन, वाणी, राग व क्षायिक-क्षणिक भावसे भी पार, सूक्ष्म, अति सूक्ष्म सामान्य द्रव्यमयी गठरीरूप होकर जमे रहो ! इस नित्यबलकी अधिकायीसे क्षणिक परिणाममे खिसको नही ! ज्ञान रागसे सहज पृथक् होकर, क्षणे-क्षणे वृद्धिगत होते-होते पूर्ण उघड़ जायेगा। – ऐसे पूज्य गुरुदेवश्रीके आशयको यथार्थ परिणमित कर देना हम सर्व मुमुक्षुओंका सदा सुखानुभवी कर्तव्य है।

महाआनन्दका नित्य भोगवटा रहे, यही भावना है।

मोक्षेच्छु
निहालचन्द्र



[५१]

कलकत्ता
२०-२-१९६४

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी शुद्धात्म सत्कार।

पत्र मिला।परम कृपालु गुरुदेवश्रीके मुखारविन्दसे मुझ सम्बन्धी निकले सहज उद्गार आपको अमुक-अमुक स्थानोंके भाईयोंसे ज्ञात हुए सो आप सबने स्वाभाविक प्रसन्नता और उत्साहपूर्वक मुझे लिखे, सो जाने।

मुक्तिनाथकी इस दास प्रत्ये सहज कृपादृष्टि इस बातका द्योतक है कि अति उमंगभरी मुक्तिसुन्दरी अप्रतिहतभावे, मुझ कृतकृत्यके साथ, महा आनन्दमयी अस्खलित, परमगाढ़ आलिगनयुक्त रहकर शीघ्रातिशीघ्र कृतकृत्य होना चाहती है।

परम पिताश्रीने हम सब पुत्र मण्डलको अटूट लक्ष्मीभण्डार (दृष्टिरूपी चाबी द्वारा खोलकर) भोग हेतु प्रदान किया है, इसे नित्य भोगो, नित्य भोगो, यह ही भावना है।

तीर्थंकरयोग सूचित करता है कि सब सज्जन पुत्रगण इस भोगको निःसन्देह भोगते हुए नित्य अमर रहेगे।

"स्थानो न क्षायिकभावना, के क्षायोपशमिक तणा नही,
स्थानो न उपशमभावना, के उदयभाव तणा नही"
"गुण अनन्तके रस सबै, अनुभौ रसके माहि,
यातै अनुभौ सारिखौ, और दूसरो नाहि"

पृथक्-पृथक् पत्रोकी पहुँच सम्भव नही, अतः सहज मिलनेपर आप उन भाईयोंको मेरा यथायोग्य स्नेह बोल देवें...। सर्व भाईयोके नित्य आनन्दका निरीच्छकपने इच्छुक।

मात्र मोक्ष अभिलाषी
निहालचन्द्र सोगानी



ॐ

नित्य शुद्ध सुख-सागरके रस-प्रति वृत्ति द्वारा आस्वादन करते रहना ही हर आत्माके लिये परम कार्य है; अन्य सर्व अकार्य हैं । जैसे भी होवे परसन्मुख रस शिथिल (क्षय) करो ! स्वसन्मुख आनन्दमे निरन्तर लीनता यह स्थिति पूर्णपणे प्रगट कर देगी । निकट आत्मार्थीको इस हेतु बिना अन्य लक्ष्य किंचित् भी नही होता; वरना संसार-प्रतिके दुःखोसे किंचित् भी हटना नही हो सकता ।

— पू. श्री सोगानीजी

ॐ

श्री परमात्मने नमः

द्रव्यदृष्टि-प्रकाश

[द्वितीय खण्ड]

पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचन



परम कृपालु श्री कहान गुरुदेव

के चरणों में [illegible]

भक्तिपूर्वक नमस्कार हो

नमस्कार हो

ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्री परमात्मप्रकाश-गाथा ४३ पर पू. गुरुदेवश्रीका प्रवचन

(आसो वद १० बुधवार, दिनाक २०-१०-६५)

यद्यपि पर्यायार्थिकनयसे, भगवान आत्मा – कारण शुद्ध ध्रुव प्रभुको – अवस्थाका उत्पाद - व्यय होना अर्थात् पूर्व अवस्थाका अभाव सो व्यय और नई अवस्थाका होना सो उत्पाद है; तो भी पर्यायका परिणमन द्रव्यमें नही है । परसे तो भिन्न ही है लेकिन पर्याय भी (ध्रुव) वस्तुमें नही है । वस्तुमे कर्म नही है, शरीर नही है, पुण्य-पापका भाव नही है, उत्पादव्ययरूप पर्याय वस्तुमे नही है ।

सुर्वणके ज़ेवरमे, सुवर्णमेसे कड़ाकी अवस्था हुई, पीछे कुण्डलादि हुआ इसमे सुवर्ण उत्पाद-व्ययसे रहित है । – ऐसे आत्मद्रव्यमें परिणमन नही है, सो कहते है :

आत्मा एकीला (अकेला) ध्रुव पिण्ड है, उसमे राग, विकल्प, उत्पाद, व्यय नही है । इसलिये राग, विकल्प, पर्यायपरका लक्ष छोड़ दे ! वस्तु, उत्पाद-व्यय परिणमन बिना की है । पर्यायार्थिकनयसे उत्पाद-व्यय सहित है, तो भी द्रव्यार्थिकनयसे उत्पाद-व्यय रहित है । वस्तु अनादि-अनन्त है, है और है । उसमे अवस्थाका होना और नाश होना, सो अंतरमे नही है – ध्रुवमे नही है । यह किसके घरकी बात है ? यह द्रव्य है, चिद्घन है । आत्मा एकीला चिद्घन है, ध्रुव है, ध्रुव है, प्रत्यक्ष है, नित्य है, एकरूप है, जिसको भाव-अभाव नही । भाव अर्थात् पर्यायका उत्पन्न होना और अभाव अर्थात् पर्यायका अभाव होना, सो वस्तुके भीतरमे नही है ।

देखो, वस्तुके स्वभावकी अचित्यता, अपरिमितता, बेहदता ! स्वभावका सामर्थ्य पूर्ण ध्रुव है । ध्रुववस्तुमें पर्यायका उत्पादव्ययरूप परिणमन नही है । द्रव्य सदा ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव, वस्तु...वस्तु...वस्तु सदा

नित्य...नित्य...नित्य है। – ऐसा अन्तर ध्रुव भगवान आत्मामे, वीतरागी शान्ति द्वारा, निर्विकल्प शान्ति द्वारा, उसके बल द्वारा – देखो; रागके बल द्वारा नही, निमित्तके बल द्वारा नही, शरीरके बल द्वारा नहीं, शरीरका संघयणका बल था इसलिये हुआ – ऐसा भी नहीं; सो परमात्माको – निजस्वरूप ध्रुव...ध्रुव चिद्घनको निर्विकल्प शान्ति द्वारा, अन्दरमें वीतरागी शान्त समाधि द्वारा, उसके बलसे; श्री तीर्थकरदेवने, ऐसे ध्रुवस्वरूपको – देहमे रहा हुआ सो निमित्तसे कहा; इसमें यह भगवान ऐसा है, ऐसा – अन्तरमें देख लिया है।

भावाभावहिं संजुवउ भावाभावहिं सो जि।
देहि जि दिट्ठउ जिणवरहिं मुणि परमप्पउ सो जि ॥४३॥

अहा...हा...हा...हा...! यह परमात्म प्रकाश है न ! आत्मा देहमे रहा है, सो असद्भूत उपचरित व्यवहार। असद्भूत पर्याय सो व्यवहार। द्रव्यार्थिकनय सो निश्चय। इसमे पर्याय है सो व्यवहार। व्यवहार है ही नही, ऐसा कौन कहता है ? ऐसे रागादि है ही नही, ऐसा किसने कहा ? यह व्यवहार और रागके सहारे निश्चय है, ऐसा नही है। पर्याय-व्यवहारके सहारे द्रव्य है, ऐसा नही।

अहा...हा...हा...! यह अनादि-अनन्त पदार्थ है कि नही ? अन्दरमे पुण्य और पाप, आये और गये। भगवान आत्मा अनादि-अनन्त ध्रुव पदार्थ है कि नहीं ? यह आत्माकी वर्तमान दशामे, हालतमे, उत्पाद-व्ययका होना सो व्यवहार है। इसलिये एक न्यायसे उसको अभूतार्थ कहा है। तो भी आश्रय लेनेवाली पर्याय है। और पर्याय है सो व्यवहार है। और व्यवहारसे निश्चय प्राप्त होता है, ऐसा नही है।

प्रश्न :– निश्चयका आश्रय तो व्यवहारने (– पर्यायने) किया ने ?

उत्तर :– पर्यायने आश्रय किया, तो किसका किया ? – द्रव्यका किया। पर्यायने विषय किया है अर्थात् भूतार्थ द्रव्य इसका विषय है। पर्यायके आश्रयसे भूतार्थ विषय नही होता है। यह सूक्ष्म बात है।

एकदम आत्मा ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव, अपरिणामी – निहालभाई कलकत्तावाले कहते थे – ऐसा है। लोगोंको माननेमे नही आता था, लोगोको ख़बर नही। निहालभाई अजमेरके (रईस) थे। वस्तु एकीला ध्रुव है, अपरिणामी है। द्रव्य, वस्तु अपरिणामी है। पर्याय परिणमती है। द्रव्य, वस्तुको परिणमन कैसा ?

यद्यपि उत्पाद और व्ययकर सहित है अर्थात् 'परिणतः' शब्द संस्कृतमे पड़ा है। भाई ! यह तो बादशाहका घर है। साधारण बादशाहके यहाँ भी ठीक होकर जानेका होता है; तो फिर यह तो परमात्मा ख़ुद, तीनलोकका नाथ आत्मा ख़ुद है। एकीला ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव है। पर्याय भले ही परिणमनमे हो। लेकिन ध्रुवमे पर्याय नही है।

यह परमात्म प्रकाश है ! एक समयकी पर्याय परमात्मा नही, यहाँ तो द्रव्य परमात्मा है। यह भाव-अभावसे रहित है। उत्पाद-व्यय सहित है, तो भी द्रव्यार्थिकनयसे उत्पाद-व्यय रहित है। यह आत्मा ध्रुव...ध्रुव एकरूप चिदानन्द है, परिणमन रहित है, एकीला वीर्य पिण्ड प्रभु है। आत्मा एकीला चैतन्य दलरूप है। पूर है, जिसमेसे अनन्त केवलज्ञान चला आवे। आत्मा अर्थात् एकीला आनन्द जो ध्रुव है – वह परिणमन रहित है।

द्रव्यार्थिकनय अर्थात् जिसका प्रयोजन एकीला ध्रुवको जाननेका है। जो ज्ञानका पर्याय ध्रुवको जानना चाहता है, यह ध्रुवमें परिणमन नही है। यह आत्मा अनन्तगुणका पिण्ड पड़ा है। निर्मल पर्याय, क्षायिक सम्यक्त्वकी पर्याय, यथाख्यातचारित्रकी पर्याय भी वस्तुमे कहाँ है ? संसारपर्यायका व्यय और कैवल्यका उत्पाद – दोनो ध्रुवमे नहीं है। यह अनादि-अनन्त भगवान अन्तर ध्रुव वस्तुको जिनवरने देहमे रहनेपर भी जान लिया है, ध्रुवको देख लिया है, पूरे द्रव्यको एक समयमें देख लिया है –ऐसा कहते है।

यह द्रव्यकी दृष्टि हुई कि द्रव्य सिद्धअवस्थारूप, केवलज्ञानरूप परिणमता है। सिद्धस्वरूपका पिण्ड ही आत्मा है। पर्यायमे सिद्ध होता

है, अर्थात् वस्तुतासे सिद्धस्वरूप ही आत्मा है। द्रव्य तो ध्रुव...ध्रुव अनादि-अनन्त सिद्ध है, परमात्म स्वरूप है, उसमे अनन्त परमात्मा विराजते है। वस्तु पूरा वीतराग पिण्ड है, उसको भगवान परमात्मा अरिहंत तीर्थंकरदेवने देख लिया कि यह द्रव्य, यह वस्तु, उत्पाद-व्यय रहित है। जाननेवाली भले ही पर्याय, लेकिन जानी हुई वस्तु ध्रुव; उसको वीतराग निर्विकल्प आनन्दरूप समाधि द्वारा तद्भव मोक्षके साधक ऐसे जिनवरदेवने देहमें भी जान लिया है। ऐसा नहीं कि मोक्ष होगा तभी जानेगे। यहाँ ने यहाँ जान लिया है कि यह ध्रुव है। ऐसा जान लिया है।

भाई ! जिसमें परिणाम नही है। अहा...हा...हा...हा...! ग़ज़ब बात है ! द्रव्य परमात्मा ऐसा का ऐसा त्रिकाल पिण्ड है, ऐसा वीतराग समाधिके बलसे अनुभवकर — ऐसा शिष्यको भी कहते हैं कि अनुभव कर !



श्री परमात्मप्रकाश-गाथा ६५ पर पू. गुरुदेवका प्रवचन

(स २०२२, कारतक वद १,दि १०-११-६५)

बन्धु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहँ कम्मु जणेइ।
अप्पा किंपि कि कुणइ णवि णिच्छउ एउँ भणेइ ॥६५॥

भगवान तीर्थंकरदेव, सर्वज्ञदेव, परमात्मा ऐसा कहते हैं — यह वस्तु है जो आत्मा, सो आत्मा, सो ध्रुव, चैतन्य, आनन्दकन्द, ज्ञायकमूर्ति, अनन्तगुणका ध्रुवस्वभाव आत्मा है। आत्मा वस्तु जो है सो ध्रुव, बिना आदि-अन्तका, अकृत्रिम, सामान्य ध्रुवतत्त्व है। आत्मा क्या है ? उसकी जीवने अनन्तकालमें दृष्टि नही की।

भगवान सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेव, जिसने एक समयमें, सूक्ष्मकालमें तीनकाल-तीनलोक प्रत्यक्ष देखा और जाना — ऐसा अरिहंत भगवान, जिसने एक समयमें, केवलज्ञान-केवलदर्शनकी दशा द्वारा तीनकाल, तीनलोक देखा-जाना; वो भगवानकी वाणीमे ऐसा आया कि भैया ! निश्चयसे अर्थात्

सत्य दृष्टिसे देखा जाय तो वस्तु भगवान आत्मा, सत्, शाश्वत, ध्रुवपदार्थ है, जिसमे बेहद ज्ञान-दर्शन-आनन्द ऐसी शक्तियोंका सत्त्वरूप आत्मतत्त्व है। सो वस्तुतत्त्व परको ग्रहे या छोड़े सो वस्तुमे नही।

वस्तु, ख़ुद शाश्वत आनन्द, अनादि-अनन्त, ध्रुव, चैतन्यकी मूर्ति, अनन्तगुणका सामान्य ध्रुव एकरूप–ऐसा निश्चय आत्मा, ऐसा सत् भगवान परको ग्रहे या छोड़े, सो वस्तुके स्वरूपमें नही है। भगवान क्या कहते है ? सो जीवने कभी वास्तविक तत्त्वको सुना ही नही। परमात्मा तीर्थंकर जिनवर देवने ऐसा कहा है – अनन्तकालसे यह वस्तु जो है ख़ुद पदार्थ, स्वयं अनन्त आनन्दरूप है। नव तत्त्वमे आत्मा है सो ध्रुव, ज्ञायक, आनन्दकन्द, सत् चिदानन्द, शुद्धस्वरूप जैसा पर्यायमे भगवानका है, ऐसा यह आत्मवस्तुका स्वरूप है। सो वस्तु ख़ुद परको बन्धन करे या छोड़े सो वस्तुके स्वरूपमे नही।

सो वस्तु अखण्ड, आनन्द, ज्ञायकमूर्ति, सत्‌चिद्, अनादि-अनन्त, अकृत्रिम सत्त्व, आत्मवस्तु ख़ुद एक समयकी अवस्थामे नही आती। पर्याय जो है उसमे – अवस्थामे – हालतमे, वस्तुकी अन्तरसन्मुखकी दृष्टि बिना, परसन्मुखकी दृष्टिसे, एक अंशके लक्षसे, उत्पन्न हुआ मिथ्यात्वभाव और राग-द्वेषभाव उसको कर्म कहनेमे आता है, यह भावकर्म है। और उसके निमित्तसे बन्ध हुआ रजकण-जड़-ज्ञानावरणादि आठ कर्म, ये जड़ कर्म है। वे भावकर्म है और ये जड़कर्म है। वस्तु ख़ुद परमस्वरूप, परमात्मा स्वयं है। यह परमात्म प्रकाश है ! यह बात अब की है भैया ! यदि तू परमात्मा पूर्ण न हो तो पर्यायमे परमात्मा कहाँसे होगा ? छोटी पीपर के प्रत्येक दानेमे पूर्ण चरपराई भरी न हो तो घिसनेपर बाहर आवेगी कहाँसे ? क्या चरपराई बाहरसे आती है ? भीतरमें शक्तिरूप पड़ी है सो प्रगट होती है। ऐसे भगवान आत्मा, अरिहन्त और सिद्धकी अवस्थारूप, पर्यायरूप, केवलज्ञान, केवलदर्शन, पूर्ण आनन्दरूप 'परमात्मा' पर्यायमे होता है, सो पर्याय कहाँसे होती है ? क्या बाहरसे आती है ? आप ख़ुद परमात्मा अनन्तगुणकी खान-निधान

वस्तु है । द्रव्य ऐसा जो आत्मा, उसकी अन्तर दृष्टि नही करके, अनादिसे बाह्यदृष्टि द्वारा, पूर्ण पदार्थ क्या है — वैसा दृष्टिमें न लेनेपर, वर्तमान अंशको, रागको, विकल्पको, इन्द्रियको लक्षमे लेकर वर्तमान पर्यायमे विकार उत्पन्न करता है । सो कर्मके लिये हुए चतुरगतिमें भ्रमण करता है, वन्धको प्राप्त होता हैं; कर्मके अभावसे मुक्त होता हे; — ऐसे कर्मके सद्भावसे वन्धन और कर्मके अभावसे मुक्ति है । वस्तु आत्मा तो त्रिकाल निर्विकल्पस्वरूप है । — यह सूक्ष्म वात है । आत्मतत्त्व अर्थात् भगवान सर्वज्ञ तीर्थंकरदेवने कहा ऐसा आत्मा, एक सेकन्ड भी अनन्तकालमे, दृष्टिमे लिया नहीं । और सव विपरीत कर-कर परेशान हुआ, —ऐसा भगवान सर्वज्ञ कहते है ।

भगवान सर्वज्ञ समवसरणमे विराजते है तब इन्द्रादिकी उपस्थितिमे चक्रवर्ती, वलदेव, वासुदेव, आदिको ऐसा कहते है । महाविदेह क्षेत्रमे वर्तमानमे भगवान सीमन्धर परमात्मा मनुष्यदेह सहित विराजते है सो भगवान ऐसा फ़रमाते है : भो आत्मा ! चार गतिका बन्धन और यह बन्धनका अभाव — ये दोनों वस्तुके स्वरूपमे नही है । वर्तमान पर्याय नयी उत्पन्न होती है और व्यय होती है ।

भावार्थ :— अनादिकालसे कर्म और आत्माका सम्वन्ध है । कर्म रजकण वस्तु है, सूक्ष्म धूलि जड़ है । आत्मा अरूपी चैतन्य आनन्दकन्द है । उसकी समीपमे (एक क्षेत्रावगाह) आठ कर्म-ज्ञानावरणादि-सूक्ष्म धूलिरूप है; — उसका सम्बन्ध अयथार्थस्वरूप अर्थात् झूठी नयसे — अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे है ।

ये अन्तरकी बातें जीवने सुनी नही । अनन्तबार नवमी ग्रैवेयक गया, लेकिन वास्तविक तत्त्व-चैतन्यभगवानका सम्यक्ज्ञान जीवने एक सेकन्डमात्र भी किया नही, ऐसा सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं । बिना आत्मज्ञान सब किया, क्रियाकांड, दया, दान, व्रत, भक्ति, तप आदि बहुत शुभभाव हुआ, स्वर्गमे भी गया, लेकिन उससे जन्म-मरणका अन्त आया नही । धूलिका देव हुआ, धूलिका राजा हुआ, धूलिका (पैसावाला) सेठ हुआ,

लेकिन भगवान आत्माकी श्रद्धा व ज्ञान जीवने अनन्तकालमे किया नही। ऐसा जो भगवान आत्मा उसको अनादिसे अयथार्थस्वरूप अर्थात् झूठी, अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनयसे आठ कर्मका सम्बन्ध है। —इस प्रकारकी बात ही अभी तो चलती नही। धर्मके नामपर हा-हो और धमाल होती है। कितने लोग तो व्यापार-धंधेमेसे निवृत्ति नही पाते है और कितने धर्मके नामपर बाह्य क्रियाकांडमे सन्तुष्ट है। वस्तु क्या है ? आत्माका स्वरूप क्या है ? उसका कैसा-कैसा सम्बन्ध है ? कौन सम्बन्धसे परिभ्रमण है ? — कुछ पता नही।

यहाँ तो कहते है कि भगवान आत्माका अन्तरस्वरूप बेहद ज्ञान और आनन्दका कन्द है। उसको अनादिसे जड़ कर्मका सम्बन्ध झूठी नयसे है; वास्तविक सम्बन्ध नही होनेसे झूठी नयसे सम्बन्ध कहा। समीप है इसलिये सम्बन्ध; निमित्त है इसलिये व्यवहार कहा। जड़कर्मका बन्ध अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनयसे अर्थात् झूठी नयसे है, ऐसा कहनेमे आता है। यह चैतन्य और वे जड़ — दोनोका सम्बन्ध झूठी नयसे है; तो कुटुम्ब-परिवारका आत्मासे सम्बन्ध है ही नही।

दूसरी बातः— भगवान-वस्तु, परमात्मस्वरूप, स्वयं द्रव्यस्वरूप, अखण्ड, ज्ञायकभाव-तत्त्व, उसको पुण्य-पाप-दया-दान-काम-भोगादिके भाव है, सो अशुद्ध निश्चयनयसे है अर्थात् वर्तमानअंशमे है। रजकण दूर है; उसकी जातिमे और अंशमे नही है — वस्तु जो ध्रुव त्रिकाल है, उसमे तो कर्म नही है लेकिन एक समयकी अवस्थामे भी कर्म नही है। वस्तु जो है अखण्ड, आनन्द, ज्ञायकमूर्ति, चिदानन्द, परमात्मा खुद, ऐसा जो भगवान आत्माको वर्तमानअवस्थामें सम्बन्ध है। कर्म तो दशामें नही थे इसलिये झूठी नयसे सम्बन्ध कहा था। यहाँ तो वर्तमानदशामे सम्बन्ध है, इसलिये दशामे निश्चय है लेकिन अशुद्ध है। पुण्य, पाप, काम, क्रोध, दया, दानादिके विकल्प जो उठते है सो विकार है, राग है, सो एक अंशमे है — इसलिये निश्चय कहा और अशुद्ध होनेसे अशुद्धनिश्चयसे सम्बन्ध है — ऐसा कहा। यह तो 'परमात्म प्रकाश' है ! बहुत अलौकिक

गाथा है !

रागादि भावकर्म अर्थात् पुण्य और पापके जो विकल्प उठते है अर्थात् शुभ-अशुभभाव उठते हैं सो मलिन होनेसे भावकर्म कहनेमे आता है, सो उस पर्यायका भाव है, द्रव्यका नहीं । 'द्रव्य', पर्यायविनाका है । द्रव्यमे पर्याय कहॉ है ? ध्रुव वस्तु है उसमे पर्याय कहॉ थी ? द्रव्य तो द्रव्य ही है ।

भगवान आत्मा अनादि-अनन्त, अकृत्रिम वस्तु सत् है, अनन्तकालका एक ही सत्त्व है सो वस्तु वेहद ज्ञान-दर्शन-आनन्दसे भरा हुआ, सत्त्वका तत्त्व – ऐसा जो द्रव्य, उसकी वर्तमान एक समयकी अवस्थामें परका सम्बन्ध कहना सो ध्रुवके लिये असद्भूत अर्थात् झूठी नयसे है । और ऐसा अखण्ड पूर्ण द्रव्य होनेपर भी, उसके एक अंशमे पुण्य, पाप, राग, द्वेष; और यह पुण्य और पुण्यके फल ठीक है – ऐसा जो मिथ्यादृष्टिका मिथ्यातभाव; सो पर्यायके एक अंशमे है । अंशमे है, इसलिये निश्चय कहा और मलिन होनेसे अशुद्ध कहा । भगवान आत्मा एक सेकन्डके असंख्य भागमे पूरण, ध्रुव, आनन्दकन्द, द्रव्य वस्तु है, उसका राग और विकल्पमे प्रेम करके अनादर किया; हे जीव ! उसमे तेरे जीवनका घात होता है ।

परम आनन्दमूर्ति भगवान वस्तु, जिसकी खानमें अनन्त परमात्मा पड़ा है, सिद्धकी समय-समयकी अनन्त अवस्था होती है, ऐसा अनन्त परमात्मा आत्मद्रव्यमें पड़ा है – ऐसा जो आत्मद्रव्य वस्तु, उस वस्तुका वर्तमान पर्यायअंशमें आदर छोड़कर, एक समयके अंशका आदर किया, इसलिये मिथ्यात्व भाव हुआ, और इसलिये जो राग-द्वेष हुआ सो अशुद्धनिश्चयसे हुआ है । शुद्धनिश्चय स्वभावमें वे नही है ।

भगवान ! तेरी बात भगवान कहते है । भगवान सर्वज्ञ प्रभु समवसरण-धर्मसभामें कहते थे । दिव्यध्वनिमें ऐसा आया कि प्रभु ! तू पूर्ण स्वरूप वस्तु है ! इसका तूने आदर नही किया और एक समयकी पर्यायको लक्षमे लेकर, मिथ्याभ्रम और राग-द्वेष उत्पन्न किये है, सो एक

समयकी पर्यायमे, तेरी पर्यायके अस्तित्वमे उत्पन्न हुआ विकार है। यह विकार और तेरा सम्वन्ध अशुद्धनिश्चयसे है। भाई तू कौन है ? और तेरी भूल कितनी ? कितने समयकी ? इसका विचार तूने कभी किया नही।

यहाँ कहते है कि भगवान ! वास्तवमे तेरा स्वरूप – अशुद्धनिश्चयसे उत्पन्न हुये विकार और कर्मके सम्वन्ध विनाका – त्रिकाली पूर्ण वस्तुरूप है। एक समयमे भगवान पूर्णानन्द वस्तु है; और अशुद्धता है सो आत्माकी अवस्थामे है। उसको त्रिकालीके साथ अशुद्धनिश्चयसे सम्वन्ध कहनेमे आता है।

संयोग सव कहाँ रहा ? उसके साथ सम्वन्ध कैसा ? स्त्री, दुकान, ज़ेवर, मकान, आदिके साथका सम्वन्ध असद्भूत-झूठी नयसे-व्यवहारसे, निमित्तरूप होनेसे उपचारसे है – दूर है इसलिये। कर्मके रजकण नजदीक है, एक क्षेत्रावगाह है, इसलिये उसको अनुपचार कहा; फिर भी असद्भूत है क्योकि जीवकी पर्यायमे नही है, भिन्न है। वे एक क्षेत्रमे भिन्न है; और संयोग भिन्न क्षेत्रमे भिन्न है; इसलिये असद्भूतनयसे उपचार है। वास्तवमे इसके साथ सम्वन्ध नही है। शरीरको आत्मा थोड़े ही रख सकता है ? शरीरकी अवस्था, राग और विकल्पके आधीन त्रिकालमे नही है, ऐसा भगवान कहते है। अजीवतत्त्वकी अवस्थाको जीव यदि करे तो अजीवकी स्वतन्त्रता नही रहती। भगवान कारणतत्त्वमे, यह धूलि नहीं है – यह भिन्न तत्त्व है। एक समयकी अवस्थामे मलिन पुण्य-पापके भाव सो अशुद्ध अंश है। वह अंशसे वन्ध हुआ। कर्मसे वन्ध और कर्म छूटनेसे मुक्ति होती है। पर्यायमे वन्ध-मुक्ति है, वस्तुमे वन्ध-मुक्ति नही। वीतराग सर्वज्ञ-कथित तत्त्व सन्तोने आसान कर दिया है।

जड़कर्मसे मुक्ति भी असद्भूतव्यवहारसे है। यह असद्भूत सम्बन्ध था और पुण्य-पापके भावका सम्वन्ध भी असद्भूतनिश्चयसे था – ये दोनो छूट गया। यह सूक्ष्म बात है। वीतरागकथित तत्त्व बहुत गूढ़ है।

भगवान आत्मा वस्तु, अनादि-अनन्त ध्रुवतत्त्व, उसकी पर्यायमे ऐसा

दो प्रकार कहा — अवस्थामे मलिनभाव सो अशुद्ध निश्चयसे सम्बन्ध कहा और रजकणका सम्बन्ध एकक्षेत्रावगाह होनेसे असद्‌भूतअनुपचार कहा । दो नयसे बन्ध और मुक्तिको कहा कि असद्‌भूतसे बन्ध और असद्‌भूतसे मुक्ति । यद्यपि मुक्ति आत्माके आश्रयपूर्वक है तो भी व्यवहारसे कहनेमे आती है । निश्चय शुद्ध परमात्माको बन्धका होना और बन्धका अभाव, सो द्रव्यमें — वस्तुमे नही; इसको यहाँ शुद्ध कहते है । एक समयकी अवस्थामे बन्ध और बन्धका अभाव है; सो बन्धके अभावकी अपेक्षा भी अशुद्धनिश्चयसे लागू होती है । अशुद्धनिश्चय और व्यवहार एकार्थ है । उसका अंश है इसलिये व्यवहारसे बन्ध और व्यवहारसे मुक्ति है । निश्चयस्वरूप भगवान द्रव्यस्वरूपमे — बन्ध और मुक्ति — वस्तुमे नही है । भाई ! वस्तु जो है सो त्रिकालीतत्त्व है, उसमे बन्ध होवे तो वस्तुका अभाव हो जाय और इसकी मुक्तिका अर्थ क्या ? वस्तुमें बन्ध और मुक्ति है नही । यहाँ तो उपचारसे कहकर व्यवहारमे, बन्ध-मुक्ति दोनोको डाला है ।

भाई ! तेरा पदार्थ भगवान जितना बड़ा पदार्थ है ! भगवानका आत्मा और यह आत्मामे वस्तुतासे कुछ फ़र्क़ नही । इन्होने अवस्थामे — पर्यायमे फ़र्क़ किया । पर्याय अर्थात् व्यवहारसे फ़र्क़ हुआ । वस्तुमे फ़र्क़ नही है । भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य है । चैतन्यका पिड प्रभु आत्मा है । एकीला चैतन्यका प्रकाशका पिड प्रभु आत्मा है । इसका अभान होनेसे, एक समयकी अवस्थामें उत्पन्न किया हुआ विकार-विकल्प, मिथ्यात्वभाव-परलक्षीभाव—जिसके निमित्तसे जड़कर्म बन्धा — ये दोनो अशुद्धव्यवहारनयसे है । शुद्धनिश्चयसे वस्तुस्वरूपमे वस्तु है सो है ।

वास्तवमे तो भगवान आत्मा वस्तु है, उसका आश्रय करके पर्याय हुई, सो भी भेदरूप हुई न ? यह व्यवहार हुआ । मोक्षमार्ग भी व्यवहार हुआ । यहाँ निश्चय-व्यवहारकी (जो मोक्षमार्गकी पर्याय होती है, इसकी) बात नहीं है । यहाँ तो द्रव्य-पर्यायकी बात है । भगवान आत्मा, वस्तु...वस्तु...वस्तु...अनादि-अनन्त, ध्रुव, अनन्त गुणका पिड, उसका

सम्यग्दर्शनमें आश्रय किया और जो (निर्मल) पर्याय प्रगट हुई, सो पर्याय व्यवहारनयका विषय है। पर्याय है सो व्यवहारनयका विषय है। अन्तरमे पूर्ण एकाग्र होनेपर केवलज्ञान प्रगट हुआ, सिद्ध हुआ, ये सब व्यवहारनयका विषय है। व्यवहार अर्थात् त्रिकाली द्रव्यका एक अंश है। शुद्धदशा भी एक अंश है, त्रिकाली स्वरूप नही। संसार भी पर्याय है, और मोक्ष भी निर्विकारी पूर्ण दशा है। वस्तु तो अनादि-अनन्त ध्रुव है।

वस्तु जो शुद्ध पारिणामिक स्वभाव है, जो कभी परिणमती नही है, उत्पाद-व्ययमे नहीं आती है। आत्मामे नई अवस्था उत्पन्न होती है, पुरानी अवस्थाका नाश होता है, सो पर्यायका कार्य है। वस्तु ध्रुव है, सो जैसी की तैसी है। अविनश्वर शक्तिमान स्वतत्त्व है, सो शुद्ध पारिणामिक है अर्थात् परम सत्यस्वरूप, एकरूप परमभाव है। विकार-पर्याय एक समयका भाव, अपरमभाव है। उसको, वस्तु जो त्रिकाली है सो शुद्ध परमभावको ग्रहण करनेवाला निश्चयनयसे, नही करती है। भगवान शुद्ध पारिणामिकवस्तु स्वयं न तो वन्धको करती है और न वन्धके अभावको करती है। केवलज्ञान भी एक समयकी दशा है, केवलज्ञान भी त्रिकालीवस्तु नही। त्रिकालीको जाननेपर भी केवलज्ञान एक समयकी दशा है। सिद्ध भी एक समयकी दशा है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप वस्तु क्या है ? अवस्थामे क्या है ? परमे क्या ? इसको दूसरा कौन-कौनके साथ कैसा सम्वन्ध है ? ये सब जाने विना, हे जीव ! तू क्या करेगा ? हरितकाय आदिका त्याग करता है, लेकिन त्याग क्या है ? इसकी ख़वर नही, तो त्याग कहाँ से किया ? ऐसे जीवको आत्माका – ख़ुदका त्याग दृष्टिमे होता है।

एक समयकी हालत है, जो दशा, सो दशा संसारकी हो या संसारके अभावकी हो, वस्तुस्वरूप परमपारिणामिक सत्...सत्...सत्... अनादि-अनन्त ऐसा आत्मा, एक नयसे विकारको करता भी नही, विकारको टालता भी नही। बन्ध और मोक्षसे रहित भगवान वस्तुस्वरूप है। ध्रुव...ध्रुव... अखण्डानन्द द्रव्यमे, वर्तमान पर्यायका बन्ध और बन्धका

अभाव वस्तुमे नही है – ऐसा भगवानने कहा है । त्रिलोकनाथ भगवान तीर्थंकरदेव सौ इन्द्रोकी उपस्थितिमे ऐसा फ़रमाते थे ।

परमात्मा सीमन्धर प्रभु महाविदेह क्षेत्रमे बिराजते है । ऐसे बीस तीर्थंकर वर्तमानमे बिराजते हैं । कितने लाख केवली बिराजते है । – यह बात सिद्ध हो चुकी है । यह भगवान फ़रमाते है – त्रणकालके भगवन्त यही फ़रमाते है – वस्तु जो एकरूप द्रव्य, परमस्वरूप, त्रिकाल आनन्दकन्द, ज्ञायक द्रव्य, ऐसा शुद्धात्मा आराधने योग्य है । आराधनेवाली तो पर्याय है । वस्तु अन्तर अनन्तगुणका पिंड, एकरूप, ध्रुववस्तु जिसमे बन्ध-मोक्षकी पर्याय नही है, ऐसा आत्मा भीतरमे श्रद्धानके योग्य है, अर्थात् उसकी दृष्टि और अनुभव करने योग्य है । ऐसा अखण्डानन्द द्रव्य चैतन्यमूर्तिपर अन्तरमे टकटकी लगाकर एकाग्रता करनी योग्य है । – ऐसी एकाग्रताका नाम धर्म है, अर्थात् मोक्षमार्ग है ।

भाई ! सुन तो सही तेरी रिद्धि !! तू कैसा है ! और कितना है ! सुने बिना कैसे समझे ? और बिना समझे धर्म कहाँसे हो ? (बाजारमें) माल लेनेको जाता है तो भी यही चीज़ लेना है ऐसा निश्चय करता है, वरना काम कैसे होय ? ऐसे यह आत्मा कैसा है ? इसको देखना है. ग्रहना है, समझना है, वरना धर्म कहाँसे होगा ? धर्म करना है, लेकिन होगा कैसे ? इसकी ख़बर नही है । यहाँ तो कहते हैं कि धर्म सीधा आत्मामेसे होता है । शुद्ध वस्तु अखण्डानन्द प्रभु आत्मा, इसकी अन्तर श्रद्धा, ज्ञान और अनुभव करनेपर धर्म आत्मामेंसे आता है; दूसरी ओरसे धर्म आ सके, ऐसा नही है ।

शुद्ध आत्मा प्रभु जिसको एक समयकी पर्याय – रागकी अवस्था, बन्ध और बन्धके अभावकी – नही है, ऐसी जो ध्रुववस्तु परमात्मा चैतन्यतारा, उसको पहचानकर, दृष्टि-ज्ञान करके, ठरने योग्य है; इसके बिना, वीतराग सर्वज्ञ परमात्माके पंथमें दूसरा कुछ मार्ग नही है । लोग दूसरा मानते हैं, कल्पना करते है । (जैन) सम्प्रदायवालेको पता नही है तो दूसरेको तो पता कहाँसे हो ?



श्री परमात्मप्रकाश-गाथा ६८ पर पू. गुरुदेवश्रीका प्रवचन

(कार्तिक वद ५, दिनाक २३-१२-६५, शनिवार)

ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ ।
जिउ परमत्थें जोइया जिणवरु एउँ भणेइ ॥६८॥

यद्यपि यह आत्मा, वस्तु जो द्रव्य, शुद्ध परमपारिणामिकभावरूप वस्तु है, सो वस्तु न बन्धकी कर्ता है, न मोक्षमार्गकी कर्ता है, न मोक्षकी कर्ता है – यह सूक्ष्म बात है । वस्तु जो द्रव्य ध्रुववस्तु है, सो संसारके भावको नही करती है, मोक्षमार्गको नही करती है और मोक्षको नही करती है ।

आत्मा अखण्डानन्द ध्रुवतत्त्व वस्तु, ऐसा आत्मा, जन्म, मरण, बन्ध, मोक्ष आदि अवस्थाको नही करता है । वर्तमान पर्यायमे – वस्तु शुद्ध द्रव्य है ऐसी शुद्धात्मानुभूतिका अभाव होनेसे – शुभ-अशुभ उपयोगको करता हुआ, जीवन-मरण, शुभ-अशुभ कर्मबन्धको करता है । वस्तु तो पर्याय रहित ध्रुव है । वस्तु जो है – निश्चयतत्त्व, सो निश्चयका विषय है । और उसकी जो पर्याय है सो व्यवहारतत्त्व, व्यवहारका विषय है । ऐसे आत्माका व्यवहारतत्त्व है सो पर्याय है । और आत्माका निश्चयतत्त्व है सो एकरूप ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव है । और व्यवहारतत्त्वरूप पर्यायमे जब तक वस्तुका लक्ष, रुचि, स्थिरता, अनुभूति, मोक्षमार्गका अभाव है तब तक शुभाशुभ भावको पर्याय करती है । आत्मा करता है उसका अर्थ द्रव्य नही, पर्याय करती है । द्रव्य चैतन्यभगवान, ज्ञायकस्वरूप जो वस्तु है, सो तो पर्याय बिनाकी, उत्पाद-व्यय बिनाकी है । उत्पाद-व्यय जो है सो व्यवहारनयका विषय आत्मा है। निश्चयका विषय त्रिकाल ध्रुव है । निश्चयतत्त्व जो वस्तु, उसके अनुभवकी व्यवहारपर्याय जो है अनुभूति अर्थात् ज्ञायकमूर्तिका श्रद्धान, ज्ञान, रमणतारूप अनुभव अर्थात् मोक्षका मार्ग ऐसी जो शुद्ध व्यवहारपर्याय, उसके अभावमे पर्यायमे शुभ-अशुभभावको करता है और शुभअशुभभावके कारण जन्म-मरणको करता है; और शुद्धात्मानुभूतिके प्रगट होनेपर शुद्धोपयोगसे परिणत

मोक्षको कर्ता है। (— इसका विवरण :) वस्तु तो वस्तु है। सो वस्तु ज्ञायक चैतन्य पदार्थ — उसके अनुभवरूप श्रद्धान, ज्ञान और शान्ति सो अनुभूति — पर्याय प्रगट होनेपर जो आत्माकी व्यवहारपर्याय, मोक्षमार्गकी पर्याय, उसको व्यवहारतत्त्व कहनेमे आता है। शुद्धोपयोगसे परिणत यह भी पर्याय अर्थात् व्यवहार आत्मा है। शुद्धस्वभावमें एकलक्ष करके, शुद्धोपयोगरूप पर्यायरूप परिणमकर, मोक्षको कर्ता है सो भी व्यवहार है। मोक्षपर्याय भी व्यवहार है। द्रव्य जो है निश्चय ध्रुव, उसने बन्ध, मोक्ष, मोक्षमार्ग नही है। निश्चयनयकी सत्वस्तु त्रिकाल एकरूप है।

भाई ! ध्रुवतत्त्व, त्रिकाल एकरूप सदृश तत्त्व है, उसमे बन्ध-मोक्ष नहीं है। मात्र एक समयकी पर्यायमे — उत्पाद-व्ययरूप पर्यायरूप व्यवहार में, शुद्धात्मानुभूतिके अभावसे, शुभाशुभ परिणमता है और जीवन-मरण करता है; और यही द्रव्य स्वकी शुद्धात्मानुभूतिके कालमें, शुद्धोपयोगरूप परिणमन करके मोक्षको करता है। मोक्षकी पर्यायको कार्यरूप करता है, सो मोक्ष भी व्यवहारपर्याय है। निश्चयद्रव्यमे पर्याय नही है। इस प्रकार अवस्थामें होनेपर भी शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहक शुद्धनयसे आत्मा बन्ध और मोक्षका कर्ता नही है। शुद्ध पारिणामिकभाव, ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव, एक समयकी अवस्था, पर्याय, उत्पाद-व्यय बिनाका तत्त्व है। निश्चयआत्मा बन्ध-मोक्षका कर्ता नही। पर्यायरूप व्यवहार आत्मा, शुभाशुभ बन्धको करे और पर्यायमे अनुभूतिसे मोक्षको करे। वस्तु सदृश रहनेवाली चीज़ चैतन्य...चैतन्य...चैतन्य, एकरूप रहनेवाली वस्तु सो निश्चयनयका विषय है — यही निश्चयतत्त्व है। अवस्थाका उत्पन्न होना और अवस्थाका नाश होना, यह व्यवहारनयका विषय है — यह पर्यायतत्त्व है। यहाँ परद्रव्यके साथ कुछ सम्बन्ध नही है, इस प्रकारके व्यवहारकी बात नही है। निश्चय ध्रुवमे पर्याय नही है, एकला ध्रुव है, सदृशभाव, शुद्ध पारिणामिकभाव, त्रिकाल एकरूप, अनन्तगुणका एकरूप — उसमें बन्ध नहीं है, मोक्ष नही है और मोक्षका मार्ग नही है। वस्तु तत्त्व है, उसका दो प्रकार — एक शाश्वत रहनेवाला सदृश है और एक पर्यायरूप होनेवाला विसदृश है।

विसदृशका अर्थ विकार नही – उसका अर्थ उत्पाद-व्ययरूप होना – ऐसा है। यह सब पर्याय अपरमभाव है। मोक्ष, मोक्षका मार्ग ये सब अपरमभाव हैं, क्षायिकभाव भी अपरमभाव है, परमभाव नही है। त्रिकाली ध्रुव सदृश रहे सो परमभाव है। यही ध्रुवपर दृष्टि देना, पर्यायकी ओर न देखना, तो मुक्ति होगी, ऐसा कहनेका अभिप्राय है।

ध्रुवका आखा कन्द पडा है; इसके विना सम्यक्त्व नही होता, ज्ञान नही होता, चारित्र नही होता, मुक्ति नही होती। कार्य होता है पर्यायसे। लेकिन यह'कारण' जो 'महा भगवान' कैसा है !! – उसकी श्रद्धा, ज्ञान विना मोक्षमार्ग उत्पन्न नही होता।

वीतराग सर्वज्ञदेवकथित तत्त्वको, जीवने जाना नही। 'भगवान आत्मा, सदृश ध्रुव, परमपारिणामिकभाव हैं' इस दृष्टिसे देखनेमे आवे तो वन्ध और मोक्ष इसमे नही है। मोक्ष भी अपरमभाव है। मोक्षका मार्ग तो अपरमभाव है ही, मगर केवलदर्शन, केवलज्ञान, केवलआनन्द, केवलवीर्य ये भी एक समयकी पर्याय – अपरमभाव हैं। त्रिकालीभाव परमभाव है।

द्रव्य परिणमन विनाका, उत्पाद-व्यय विनाका है। उसपर दृष्टि देनेकी है। – ऐसा सुनकर शिष्यने प्रश्न किया : शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर आत्मा मोक्षका कर्ता नही है, तो ऐसा समझना चाहिए कि शुद्धनयकर मोक्ष ही नही है और जब मोक्ष ही नही तब यत्न करना वृथा है ?

इसका उत्तर कहते है : वस्तु जो सत् चिद् त्रिकाल, वह स्वयं वन्ध-मोक्षको नही करती है। परिणत हुई पर्यायमे वन्ध-मोक्ष या मोक्षमार्ग है। शुद्ध निश्चयनयसे वस्तुमे वन्ध-मोक्ष नही है तो शुद्धनयसे मोक्षका पुरुषार्थ भी नही है। मोक्ष है, वह वन्धपूर्वक है। मोक्षकी पर्याय आत्मामे होती है, वह वन्धपूर्वक है। वन्धका उत्पाद होता है, उसका नाश होकर वादमे मोक्ष होता है। और जो वन्ध है, वह शुद्ध निश्चयनयकर होता ही नही। वस्तुस्वरूपसे, शुद्ध निश्चयनयसे वन्ध हो तो वन्ध कभी छूटे नही। शुद्ध निश्चय अर्थात् शुद्ध सत्त्व, वस्तु त्रिकाल एकरूपको (शुद्ध) नयसे

देखनेपर बन्ध होता ही नही। इस कारण बन्धके अभावरूप मोक्ष है, यह भी शुद्ध निश्चयनयकर नही है। जो शुद्ध निश्चयसे बन्ध होता तो हमेशा बन्धा ही रहता। कैसी बात है! ध्रुव रहनेवाली वस्तुको, ध्रुवकी दृष्टिसे देखनेमे आवे और बन्ध इसमे होवे तो बन्ध भी ध्रुव रहे, ऐसा कहते है। बन्धका अभाव कभी न हो सके। वस्तुरूप, नित्यपणे, ध्रुवरूप बन्ध होवे तो बन्धका भी नाश न हो सके। इसके बारेमे समझनेके लिये दृष्टांत कहते है : कोई एक पुरुष सॉकलसे बन्ध रहा है। और कोई एक पुरुष बन्ध रहित है। उनमेसे जो पहले बन्धा था उसको 'मुक्त' ऐसा कहना ठीक मालूम पड़ता है। और दूसरा जो बन्धा ही नही उसको जो 'आप छूट गये' ऐसा कहा जाय तो वह क्रोध-करे कि, मै कब बन्धा था! जो यह मुझे छूटा कहता है? बन्धा होवे वह छूटे। इसलिये बन्धेको तो छूटा कहना ठीक है; और बन्धा ही न हो उसे छूटा कैसे कह सकते है? उसी प्रकार यह जीव शुद्ध निश्चयनयकर बन्धा हुआ नही है। वस्तु जो है, तत्त्व है, है, वह है, सदृश है, एकीला सदृश गुणका सत्त्व है – द्रव्य सो कभी बन्धा हुआ नही है। द्रव्यको बन्धा हुआ कहना और द्रव्यको मुक्त कहना सो ठीक नही। बन्ध-मुक्ति, उत्पाद-व्यय पर्याय बिनाका द्रव्य, ऐसा भगवान परमात्मा शुद्ध निश्चयनयसे भूतार्थ है। निश्चयसे यथार्थ है। उसकी दृष्टि करनेसे, उसका अनुभव करनेसे सम्यग्दर्शन होता है। देव-शास्त्र-गुरु तो बाहर रहे, विकल्प भी बाहर रहा और निश्चय-व्यवहारकी पर्याय भी बाहर रह गई।

* दृष्टिको निमित्तपर रखनेसे सम्यग्दर्शन होता है? – तीन कालमे नही।

* दृष्टिको विकल्प, दया, दान, भक्ति, पूजाके भावपर रखनेसे सम्यग्दर्शन होता है? – तीन कालमें नही।

* दृष्टिको, क्षयोपशमज्ञान-वीर्यादिकी जो पर्याय प्रगट है उस पर रखनेसे सम्यग्दर्शन होता है? – तीन कालमे नही।

बन्ध भी व्यवहारनयकर है। आत्माकी विकारमे अटकी हुई रागकी

पर्याय भी व्यवहारसे है। मुक्ति भी व्यवहारनयसे है। शुद्ध निश्चयनयकर न बन्ध है, न मोक्ष है। अशुद्ध नयकर बन्ध है सो व्यवहारनय हुआ। बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था, यह अशुद्धनय है। अशुद्धनय कहो या व्यवहारनय कहो, एक ही बात है। मोक्ष भी सद्भूत उपचरितव्यवहारनयका विषय है। मोक्षकी पर्याय जो है, यह स्वयं व्यवहार है। स्वभावआश्रित मोक्षका मार्ग जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है सो पर्याय व्यवहार है। व्यवहार मोक्षमार्ग जो दया-दानका विकल्प सो व्यवहारकी बात यहाँ नही है; वे तो बन्धमार्गमे गये। कषायकी मंदताका परिणाम, भक्ति, पूजा, दया, दान, देव-शास्त्र-गुरु प्रतिकी श्रद्धाका भाव, सो राग तो बन्धकी पर्याय है, निश्चयमे तो है ही नही। यह बन्धका अभावरूप मोक्षमार्ग सो भी व्यवहार पर्याय है। उत्पाद-व्ययरूप पर्याय है, वह ध्रुव नही है। स्वभावके आश्रित शुद्धोपयोगका परिणमन सो भी व्यवहार है। मोक्ष भी व्यवहार है। एक अपूर्ण पर्याय है, एक पूर्ण पर्याय है — दोनो व्यवहार है। पर्याय स्वयं व्यवहार है। आश्रय लेनेवाली पर्याय व्यवहार है। जिसका आश्रय लेनेमे आता है सो वस्तु निश्चय है। व्यवहारका अर्थ विकल्प और भेद नही; पर्याय अंश है इसलिये व्यवहार है। व्यवहारकी व्याख्या क्या ? ध्रुवमे उत्पाद-व्ययका होना सो व्यवहार है; यही सिद्धान्त है। आगमपद्धतिमे दया, दानके भावको व्यवहार कहते है। अध्यात्मपद्धतिमे तो शुद्ध पर्यायको व्यवहार कहते है। द्रव्य शुद्ध निश्चय है। द्रव्य जो है सो निष्क्रिय है। त्रिकाली ध्रुवके अवलम्बनसे जो निर्मल पर्याय हुई, यह मोक्षका मार्ग सक्रिय है। ध्रुवमे, सक्रियपना — परिणमन कहाँ है ? द्रव्यस्वभाव तो निष्क्रिय है। विकल्प है सो बन्धका परिणमनरूप सक्रिय है। मोक्षका मार्ग होवे सो निर्मल पर्यायरूप परिणाम, सक्रिय अवस्था है। और पूर्ण पर्याय मोक्षरूप सक्रिय अवस्था हुई।

अहो ! वीतरागकथित तत्त्व अलौकिक है ! अहो ! वीतराग द्वारा अनुभव किया हुआ पूर्ण मार्ग ! श्रीमद् राजचन्द्रजीने कहा है न : "अहो ! यह देहकी रचना ! अहो ! यह चेतनका सामर्थ्य ! अहो

ज्ञानी ! अहो ! ज्ञानीकी गवेषणा ! अहो ! ज्ञानीका ध्यान ! अहो ! ज्ञानीकी समाधि ! अहो ! उनके वचनका योग ! – अन्तरकी बातमे वीतरागताके भासमे ये उद्गार है ! अहा...हा...हा...हा...!

भगवान आत्मा, त्रिकाली तत्त्व, ऐसे निश्चयस्वरूपमे सक्रियता या बन्ध-मोक्ष कैसे हो ? निश्चय मोक्षमार्गरूप परिणमन भी सक्रिय है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य द्रव्य निष्क्रिय है। निष्क्रिय अर्थात् परपदार्थकी क्रिया करे ऐसा नही, राग करे यह भी निष्क्रिय नही, लेकिन मोक्षमार्गकी पर्याय भी जिसमे नही है। वस्तु तत्त्व निष्क्रिय, वह मोक्षकी सक्रिय पर्यायको कैसे करे ? शुद्ध निश्चयनयसे न बन्ध है, न मोक्ष है। वास्तवमे अशुद्ध निश्चयनयसे ही बन्ध है। अशुद्ध निश्चय अर्थात् व्यवहार पर्याय एकदेश शुद्धनय है अर्थात् व्यवहार है, इसलिये बन्धके नाशका यत्न भी अवश्य करना चाहिए। अर्थात् ध्रुवका प्रयत्न अन्तर्लक्ष करना चाहिए।

यहाँ यह अभिप्राय है कि, सिद्ध समान अपना शुद्धात्मा, अर्थात् शुद्ध...शुद्ध...शुद्ध...द्रव्य वस्तु आत्मा, वीतराग निर्विकल्प समाधिमे लीन पुरुषोको उपादेय है। भगवान आत्मा, उस ओरकी बिना रागकी श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति, ऐसी अरागी – वीतरागी श्रद्धा, ज्ञान और शान्तिके कालमे, यह आत्मा उपादेय अर्थात् दृष्टिमे आता है। यह पर्याय – बिना राग की हुई, निर्विकल्प अभेद परिणति हुई इस पर्यायमे, शुद्धात्मापर लक्ष है, वह उपादेय है। ध्रुव उपादेय है।

भगवान आत्मा, वस्तु जो ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव...उसपर दृष्टि देनेवाली दशा, उसमे स्थिर होनेवाली दशाको निर्विकल्प शान्ति कहते है। उसमे यह (विद्यमान) द्रव्य उपादेय है, अन्य सब हेय है। क्षायिक सम्यक्त्वकी पर्याय प्रगट होनेपर भी, द्रव्यकी उपादेयताके कालमे हेय है – एक ही बात है। क्षायिक सम्यक्त्व, जो द्रव्यके लक्षसे होता है सो भी हेय है; क्योंकि द्रव्यमे ज़ोर देनेका है; उसमेंसे नयी पर्याय प्रगट होती है। क्षायिक समकितके लक्षसे चारित्र नही होता है। निश्चय मोक्षमार्ग हेय है, मोक्ष भी हेय है; द्रव्य ही उपादेय है। यह तो "परमात्मप्रकाश"

है !! परमात्मा द्रव्य वस्तु एकमात्र आदरणीय है, अन्य कुछ आदरणीय नही ।

वस्तु...वस्तु...वस्तु...शाश्वत आनन्दधामरूप, ध्रुव द्रव्य, यह एक ही लक्ष करने योग्य है । और सब प्रगट हुई पर्याय भी लक्ष करने योग्य नही है । यह अपेक्षासे हेय कहनेमे आती है ।

मुनिको छठवे गुणस्थानमे तीन कषायका अभावरूप चारित्र प्रगट है । उसको भी यह तीन कषायका अभावरूप चारित्र उपादेय नही है । अहा...हा...हा..!क्योकि द्रव्य अन्तरमे एकाकार पड़ा है — वही परमेश्वर द्रव्य, त्रिकाली ध्रुव आदरणीय है, अन्य कुछ आदरणीय नही है ।

भगवान ! तू क्या अपूर्ण हो, जिससे तेरेको परके सहारे रहना पड़े ? भगवान आत्मा सत् शाश्वत ध्रुव है । उसके लक्षसे प्रगट हुई पर्याय, सो व्यवहार, भी हेय है । एक चिदानन्द ध्रुव शाश्वत प्रभु, सो निज मन्दिरमे आदरने लायक है । भगवान आत्मा, द्रव्यार्थिकनयका विषय, अर्थात् द्रव्य वस्तु, महा परमेश्वर चैतन्य महाप्रभु, यह ध्रुवमे लक्षकर अर्थात् उसको उपादेयकर, उसका आश्रय करना यही मोक्षमार्ग है, मोक्ष भी उससे होता है; इसलिये यही एक आदरणीय है ।



दृष्टिका विषय

वस्तु त्रिकाली है, जिसके आश्रयसे निर्मल पर्याय होती है । पर्यायके आश्रयसे पर्याय निर्मल नही हो सकती । गुरुके वचनप्रति लक्ष जाता है तब तक निमित्त, शास्त्र, गुरु और ज्ञान सब विनाशी; लेकिन ध्रुवकी ओर नज़र लगे तब ज्ञान अविनाशी होता है । अनुभव और सम्यग्दर्शन अवस्था है । उसको (सम्यग्दर्शनकी पर्यायको) और आत्माको त्रिकाली सम्बन्ध नही है । क्योकि वह (अवस्था) बदल जाती है । दर्शन, निमित्तका स्वीकार नही करता है, परन्तु बादमे उपचारसे निमित्त कहनेमे आता है; पीछेसे ज्ञान निमित्तको जानता है । दर्शनके समय निमित्त नही है । पीछेसे निमित्त कहलाया । निमित्तको रागसे जानता है तब तक ज्ञान विनाशी-अनित्य है । वह (विनाशी ज्ञान) अविनाशीको लाभ करता नही । वह तो पूर्वका ही उघाड़ (क्षयोपशम) है । ख़ुदने ही जब स्वयंकी ओर ढलकर

निर्णय किया तब निमित्त कहनेमे आता है। जिस कालमे अविनाशी ज्ञान होता है उस कालमे निमित्तका सवाल (प्रश्न) ही नही रहता। निर्णय सामान्यके प्रति ढल गया, तत्काल संसार छूट गया। संसार छूटनेका कारण द्रव्य स्वयं है। निर्णय होनेके बाद निमित्त कहनेमे आता है। ध्रुवशक्ति साध्य है, मोक्ष साध्य नही है। मोक्ष प्रगट होता है। प्रगट-अप्रगट पर्यायदृष्टिमे होता है। ध्रुव नित्य प्रगट है। प्रगट-अप्रगटका सवाल ही वस्तुमे नही। प्रगट-अप्रगट अवस्थामे है। वस्तु ध्रुव तो नित्य प्रगट ही है। साध्य वस्तु, साधन निर्णय (व्यवहार)। ध्रुव लक्षमे आने पर सहज निर्मल अवस्था प्रगटती है। पुरुषार्थ करना नही पड़ता, सहज हो जाता है। आश्रय पर्यायका कैसा ? आश्रय स्वभावका ! ध्रुव और मोक्ष दोनो साध्य होनेपर तो दो भङ्ग पड़ जाये। दर्शनका विषय भङ्ग (दो) नही है। सम्यग्दर्शन व केवलज्ञान खुल जाय सो निश्चयसे आदरणीय नही है। साध्य-साधनका भेद निश्चयमे है ही नही। भेदका ज़ोर आवे तो अभेदपर ज़ोर नही आता।

–[गु आत्मधर्म अक १०-११मेसे उद्धृत (हिन्दी अनुवाद)]

आत्मा द्रव्यदृष्टिसे अपरिणमन स्वरूप है, अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे पुण्य-पापका विकार होनेका सामर्थ्य आत्मामे नही है। पर्यायदृष्टिसे परिणामी है, स्वभावमे शुद्ध पर्यायरूप भी परिणमता है। और अशुद्ध पर्यारूप भी परिणमता है। शुद्ध वस्तु-दृष्टिसे आत्मा अपरिणमन स्वरूप है अर्थात् कूटस्थ है; लेकिन तद्दन कूटस्थ है ऐसा नही है; कथंचित् किसी अपेक्षासे कूटस्थ है और कथंचित् किसी अपेक्षासे परिणामी भी है। बन्ध और मोक्ष पर्याय है, सो निमित्तकी अपेक्षा रखनेवाली पर्याय है। निरपेक्ष दृष्टिसे आत्मा अपरिणामी है। अभेद दृष्टिसे आत्मा अपरिणामी है। और द्रव्य-गुण-पर्यायका भेद पाड़नेपर आत्मामे शुद्ध निरपेक्ष पर्याय है, इसलिये आत्मा परिणामी भी है। सिद्ध भगवन्तके अनन्त गुणमे भी परिणमन हो रहा है, इसलिये आत्मा परिणामी है। लेकिन द्रव्यदृष्टिसे – अभेद दृष्टिसे आत्मा अपरिणामी है।

– [समयसार प्रवचन भाग-५ पृष्ठ ३५२-५३
गाथा २८०के प्रवचनमेसे उद्धृत (हिन्दी अनुवाद)]



ॐ

श्री परमात्मने नम

द्रव्यदृष्टि-प्रकाश

[तृतीय खण्ड]

श्री सोगानीजीके साथ मुमुक्षुओंकी हुई

आध्यात्मिक

तत्व-चर्चा



[illegible]

(श्री सोगानीजीके उद्‌गार)

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

'परिणाम योग्यतानुसार हो जाता है; मै वो [परिणाम जितना ही] नही।' – इसमे किसीको ऐसा लगे कि, क्या परिणाम जड़मे होता है? अथवा निश्चयाभास-सा लगता है। लेकिन ऐसा कहनेमे तो "अपरिणामीका" ज़ोर बताना है। १.

∴

प्रश्न :– आप शुद्ध पर्यायको दृष्टिकी अपेक्षासे भिन्न कहते है या ज्ञानकी अपेक्षासे ?

उत्तर :– दृष्टिकी अपेक्षासे भिन्न कहते है; ज्ञानकी अपेक्षासे नही। दृष्टि करनेके प्रयोजनमे भिन्नताका ज़ोर दिये विना दृष्टि अभेद नही होती; इसीलिये दृष्टिकी अपेक्षासे ही भिन्न कहते है। और अपनी तो यही 'दृष्टिप्रधान' शैली है, सो ऐसे ही कहते है। २.

निर्विकल्प होते ही अपनेमेसे ही एक ज्ञान उघड़ता है जो दोनो [सामान्य-विशेष] पड़खोको सहज जान लेता है, उसीको प्रमाणज्ञान कहते है। ३.

✣

'परिणाम' और 'त्रिकाल अपरिणामी' – दो मिलकर ही पूर्ण एक वस्तु है, जो प्रमाणका विषय है। वेदान्तादि तो केवल निष्क्रिय...निष्क्रिय कहते है, वे परिणामको ही नही मानते है; तो निष्क्रिय भी जैसा है वैसा तो उनकी मान्यतामे भी नही आता। यहाँ तो परिणामको गौण करके निष्क्रिय कहा जाता है। ४.

⁂

एक चक्रके अनेक पासे (पहल) है, सभी पासे अलग-अलग ड़िजाइनके हैं। जब किसी एक पासेकी बात चलती हो तब दूसरे पासेकी बात नही समझनी चाहिए। ऐसे वस्तुके अनेक धर्मोमेसे भिन्न-भिन्न धर्मोकी

बात चलती हो, तब एकको दूसरेमे मिलाकर, घोटाला नहीं करना चाहिए। ५.

*

[अन्त तत्त्व और बहिर्तत्त्वकी अपेक्षायें बताते हुए कहा]

जब शुद्धपर्याय बहिर्तत्त्व है, ध्यान बहिर्तत्त्व है, तब ध्रुवतत्त्व (परम पारिणामिकभाव, कारणपरमात्मा) अन्तःतत्त्व है। जब दो घरकी बात चलती हो, तब उसमे तीसरे घरकी टॉग (बात) डालनेसे घोटाला हो जाता है।

ध्रुवतत्त्व अन्तःतत्त्व है, तब शुद्धपर्याय बहिर्तत्त्व है। शुद्धपर्यायको अन्तःतत्त्व कहे, तब अशुद्धपर्यायको बहिर्तत्त्व कहते हैं। अशुद्धपर्यायको अन्तःतत्त्व कहे, तब कर्मको बहिर्तत्त्व कहते है। कर्मको अन्तःतत्त्व कहें, तब नोकर्मको बहिर्तत्त्व कहते हैं। – ऐसे [अपेक्षित विवक्षानुसार] सब घटा (समझ) लेना। ६.

*

सिद्ध (पर्याय)से भी मैं अधिक हूँ; क्योकि सिद्ध (दशा) तो एक समयकी पर्याय है; और मै तो ऐसी-ऐसी अनन्त पर्यायोका पिण्ड हूँ। ७.

*

जैसे मेरुपर्वत अडिग है; 'मै' भी (स्वभावसे) वैसे ही अडिग हूँ। मेरुमें तो परमाणु आते-जाते हैं; लेकिन मेरेमें तो कुछ भी आता-जाता नहीं – ऐसा 'मैं' अडिग हूँ। ८.

*

'मै वर्तमानमें ही मुक्त हूँ, आनन्दकी मूर्ति हूँ, आनन्दसे भरचक समुद्र ही हूँ' – ऐसी दृष्टि हो, तो फिर मोक्षसे भी प्रयोजन नही; मोक्ष हो तो हो, न हो तो भी क्या ? [पर्यायकी इतनी गौणता द्रव्यदृष्टिमे हो जाती है।]

मेरेको तो वर्तमानमें ही आनन्द आ रहा है फिर पर्यायमें तो मोक्ष

होगा ही ! [– ऐसी प्रतीति आ जाती है ।] लेकिन मेरेको तो उससे भी प्रयोजन [दृष्टि] नही । ९.

∴

'कुछ करना' [कर्तृत्वबुद्धिसे] सो मरने बराबर है । मुझे शुरूसे ही 'कुछ करनेके भावमे' मरने जैसा बोझा लगता था । शुभपरिणाम होते (तो) मै भट्ठीमे जल रहा हूँ – ऐसा लगता था ।

समुद्रके जलमेसे एक बूँद उडकर बाहर पड़े तो उस बूँदको रेत चूस कर ख़त्म कर देगी; और यदि गर्म रेत हो तो बूँद तुरत ख़त्म हो जावेगी । वैसे ही परिणाम बाहरकी ओर जाये (तो) उसमे दुःख ही दुःख है । १०.

∴

द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षासे तो शुद्धपर्याय भी परद्रव्य है । जब मेरे अस्तित्वमे वो [शुद्धपर्याय] नही तो फिर रागकी तो बात ही क्या ? [द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षा अर्थात् द्रव्यस्वभावमे अहंभावरूप श्रद्धाका परिणमन होना । ऐसी श्रद्धा होनेपर ही पर्याय शुद्ध होती है परन्तु श्रद्धा उसमे अहंभाव नही करती ।] ११.

∴

पर्यायमे तीव्र अशुभपरिणाम हो या उत्कृष्टसे उत्कृष्ट शुद्धपर्याय हो 'मेरे'मे [एकरूप द्रव्यस्वभावमें] कुछ भी बिगाड़-सुधार नही होता, 'मै' तो वैसा का वैसा ही हूँ । १२.

∴

[द्रव्यदृष्टिके जोरमे] केवलज्ञानसे भी हमारे प्रयोजन नही; मोक्षसे भी प्रयोजन नही; वो तो हो ही जाता है ।१३.

∴

ज्ञानका विषय, दृष्टिके विषयका प्रयोजन साधने जितना ही लक्ष्यमे लेना ठीक है; बाकी उसका [इससे अधिक] प्रयोजन नही है । [प्रयोजनभूत 'स्वरूप'के अलावा जाननेमे आते हुए

सभी ज्ञेयोमे ज्ञानको अपना प्रयोजन भासित नही होता ।] १४.

*

सुन-सुन करके मिल जायेगा, यह दृष्टि झूठी है । [कार्यसिद्धि] **अपने** [अन्तर्पुरुषार्थ]**से ही होगी । सुनना, सुनाना, पढ़ना – ये सभी** [बहिर्मुखीभाव, कार्यसिद्धिके लिए] **बेकार हैं; ये हों तो भले हो; लेकिन उसका खेद होना चाहिए, निषेध आना चाहिए । १५.**

*

मैं पहले तो सब सुन लूँ, जान लूँ; पीछे पुरुषार्थ करुँगा [– ऐसा परिणाम, स्वभावकी अरुचिका द्योतक है] **– ऐसे पीछेवाले सदा पीछे-पीछे ही रहेगे । यहाँ तो वर्तमान इसी क्षणसे ही** [पुरुषार्थ] **करनेकी बात है । १६.**

*

व्यवहारनयको अभूतार्थ कहनेसे संक्षेपमें परिणाम मात्र [जो कि व्यवहारनयका विषय है] **अभूतार्थ है – ऐसा कहा है; चाहे तो परिणाम अशुभ हो, शुभ हो या शुद्ध हो । १७.**

*

अपने परिणाम तक ही अपनी (कार्य) सीमा है; इससे आगे तो कोई द्रव्य जा ही नहीं सकता । १८.

*

परिणाम अपना है; तो भी उसको आप ख़ुद ही [कर्ताबुद्धिसे] **पलट नहीं सकते । परिणाममें कर्ता-कर्मपनेका धर्म है, इसलिए वो तो पलटेगा ही । जब दृष्टि बाहर झुकी है; दृष्टिका प्रसार अपनेको छोड़कर बाहरमें है; तो परिणाम भी बाहर झुकेगा । और यदि दृष्टि अपने स्वभावकी ओर है, तो परिणाम भी अपनी ओर झुकेगा ।**

अपनेको तो परिणाम भी पलटाना [फेरफार करना] **नही है । 'मै' अपरिणामी हूँ और पलटना मेरा धर्म ही नहीं है; वह तो परिणामका धर्म है । दृष्टिकी अपेक्षासे शुद्धपरिणाम भी मेरेसे अलग ही है; ज्ञान उसको अपना अंश जान लेता है । १९.**

*

प्रश्न :— प्रथम पात्रताका क्या स्वरूप है ?

उत्तर :— अपने द्रव्यमे दृष्टिको तादात्म्य करना, प्रसारना। बाह्यमें तादात्म्य कर रही दृष्टिको अपनेमे तादात्म्य करना, यही प्रथम पात्रता है। २०.

*

[आत्मिक आनन्दके विषयमे आपने कहा] **जब एकबार आनन्दकी घूँट पी ली... तब तो बार-बार वही घूँट पीनेके लिए अपनी ओर आना ही पड़ेगा। दूसरी किसी जगह परिणतिको रस ही नही आयेगा; बार-बार अपनी ओर आनेका ही लक्ष्य रहेगा; दूसरे सब रस उड़ जायेगे। २१.**

*

[सहज पुरुषार्थके विषयमे आपने कहा] **पुरुषार्थ करूँ... पुरुषार्थ करूँ — यह बात भी नही है** [सहज पुरुषार्थका ऐसा स्वरूप ही नही है।] **'मै वर्तमानमें ही अनन्त पुरुषार्थका पिण्ड हूँ'** [— ऐसे स्वाश्रयमे] **पर्याय द्रव्यकी ओर ढल जाती है। इसलिए** [उपदेशमे] **पर्यायकी अपेक्षासे पुरुषार्थ करनेका कथन आता है। २२.**

*

'मै स्वयं ही वर्तमानमें भगवान हूँ' — [इसमे] **भगवान होना भी क्या है ?... अपने स्वभावमें दृष्टिका प्रसार होते, पर्याय मेरी ओर झुकते-झुकते, पर्यायमे केवलज्ञान-सिद्धदशादि होती ही है; परन्तु मुझे तो इससे भी प्रयोजन** [दृष्टि] **नही है। २३.**

*

पहेले तो [तत्त्वकी] **धारणा बराबर होनी चाहिए। लेकिन धारणा अन्तरमे उतरे तभी सम्यग्ज्ञान होता है। धारणामे भी इधरका** [आत्माका] **लक्ष्य होना चाहिए।** [धारणा स्वलक्ष्यी होनी चाहिए। स्वलक्ष्यी धारणा प्रयोगकी उत्पादक होती है। और प्रयोगान्वित धारणामे धारण किया हुआ उपदेश जब अन्तरमे उतरता है तभी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है।] **२४.**

❋

अपने त्रिकाली अस्तित्वमे अपनापन होनेसे पर्यायबुद्धि छूट जाती है । २५.

❋

विभाव तो मेरेसे बहुत दूर है । यहाँ तो परिणाम [शुद्धपर्याय] **भी मेरेसे भिन्न है । 'मै तो अपरिणामी हूँ' — एक समयके परिणामके साथ नहीं बहता । २६.**

❋

प्रश्न :— द्रव्यको परिणामी कहें तो क्या हर्ज है ?

उत्तर :— 'परिणाम' 'परिणामी' कहनेमे थोड़ा शब्दफेर है । परिणामसे परिणामीको बतानेमें भी परिणामकी ओर लक्ष्य चला जाता है । इसलिए [परिणामका लक्ष्य नही करनेके हेतुसे] **'परिणाम' 'परिणामी' नहीं, परन्तु 'अपरिणामी' और 'परिणाम' — ऐसा कहो । २७.**

❋

शास्त्रमें व्यवहारकी कितनी बाते जीव स्वच्छन्दमे नही चढ़ जाए, इस हेतुसे होती हैं । ...तो जीव उन बातोंको पकड़कर, घोटालेमे [एकातमे] **चढ़ जाता है ।** [– व्यवहारको उपादेय मान लेता है ।]. **२८.**

❋

'मैं' [त्रिकाली] **परिणाममें नही जाता ।** [त्रिकाली स्वभावमे अपनापन होनेसे] **परिणाम सहज ही मेरी ओर आता है । २९.**

❋

'मै वर्तमानमे ही परिपूर्ण हूँ, कृतकृत्य हूँ, मुझे कुछ करना-धरना ही नही है' — ऐसी दृष्टि होनेपर, परिणाममे आनन्दका अंश प्रकट होता है; और बढ़ते-बढ़ते पूर्णता हो जाती है । ३०.

❋

प्रश्न :— शुद्ध परिणाममें द्रव्य व्यापक है कि नही ?

उत्तर :— पूरे द्रव्यकी [प्रमाणज्ञानकी] **अपेक्षासे देखा जाए तो द्रव्य**

परिणाममे व्यापक है। परन्तु दृष्टिके विषयकी [[illegible]] अपेक्षासे तो अपरिणामी द्रव्य परिणाममे व्यापक नहीं है। ३१.

∴

दृष्टिका विषयभूत द्रव्य एकान्त कूटस्थ ही है। पर्यायकी अपेक्षासे पर्याय एकान्त अनित्य ही है। [– [illegible]] ३२.

∴

प्रश्न :- निर्विकल्प उपयोगमे कैसा आनन्द आता है ?

उत्तर :- निर्विकल्प उपयोगके सुखकी तो क्या बात करें !! लेकिन समझानेके तौर-से जैसे गन्नेके (शेरडीके) रसकी घूँट पीते हैं, वैसे आनन्दकी घूँट...एकके बाद एक चलती ही रहती है; उसमेसे निकलनेका भाव ही नही आता। ३३.

∴

[[illegible]] अशुभपरिणामके कालमे इस ओरका [[illegible]] झुकाव मन्द होता है। शुभपरिणामके कालमे इस ओरका थोडा ज़्यादा [[illegible]] झुकाव होता है। [परन्तु [illegible]] दृष्टिका झुकाव तो वैसा का वैसा ही है। लडाईके कालमे बाहर लडाईकी क्रिया होती है और रागमे अशुभरागकी क्रिया होती है; पर 'मैं' तो मेरेमे ही अचल रहता हूँ, मेरेमे तो उस समय भी रागकी क्रियाका अभाव है। ३४.

∴

'मैं' अडिग हूँ, किसीसे डिगनेवाला नही हूँ – ऐसा निश्चय होनेपर, निर्णयका फल आनन्द आना चाहिए; तब ही निर्णय सच्चा है। ३५.

∴

[भेदज्ञानका स्वरूप] हर समय विकल्पसे भेदज्ञान करना नही पड़ता, वो तो सहजरूपसे हो जाता है। ३६.

∴

दृष्टि द्रव्यमे तादात्म्य हो जानेपर भी चारित्रपरिणति कुछ च्युत होकर

परकी ओर चली जाती है, तो भी स्वरूपाचरणकी च्युति नही होती। ३७.

❋

(स्वरूपकी) दृष्टि होनेपर भी चारित्रगुणकी योग्यता ही ऐसी होनेसे चारित्रगुण पूरा (शुद्ध) नही परिणम जाता। श्रद्धागुणका स्वभाव ऐसा है कि एक ही क्षणमे द्रव्यमे पूरा का पूरा व्याप्त हो जाता है। चारित्रगुणका स्वभाव ऐसा है कि वह क्रम-क्रमसे ही पूरा होता है। – ऐसे दोनो गुणोके स्वभाव ही अलग-अलग हैं। ३८.

❋

जब दृष्टि अपने स्वरूपमें तादात्म्य होती है तो थोड़े काल तक राग आता तो है, लेकिन वह लॅंगड़ा हो जाता है; उसको आधार नही रहता। ३९.

❋

'मै' तो कभी भी नही हिलनेवाला खूँटा हूँ। परिणाम आते है और जाते है, मगर 'मै' तो खूँटेकी तरह अचलित ही रहता हूँ। ४०.

❋

बहिर्मुख होनेसे ज्ञान खिलता नही और अन्तर्मुख होनेसे भीतरसे ही केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। अपनी ओर ही देखनेकी बात है। ४१.

❋

[एक जिज्ञासु] आत्माको ही पकड़नेकी बात है ? [भाईश्री] पकड़ना क्या ? – 'मै तो स्वयं हूँ ही' – पकड़ना-फकड़ना सब परिणामकी अपेक्षासे कहनेमे आता है। परिणाम अपनी ओर झुका तो परिणामकी अपेक्षासे आत्माको पकड़ा – ऐसा कहनेमे आता है। ४२.

❋

अपने द्रव्यमे दृष्टि तादात्म्य होते ही ज्ञान प्रमाण हो जाता है; तब ज्ञान [अन्य] सभी बातें [यथार्थरूपसे] जान लेता है। ४३.

❋

जब अपनी ओरसे खिसक कर बाहर जानेका ही निषेध है, तो अशुभमे जाकर परमे रस पड़ जावे तब तो दृष्टि अपने द्रव्यमे रही

ही कहाँ ? —वह तो परमे चली गई । [मिथ्यादृष्टि जीवको प्राय भोगोपभोगके अशुभ परिणामे रस आता है जो स्वय मिथ्यात्वके सद्भावका द्योतक है ।] **४४.**

*

"अनेकान्त पण सम्यक् ऐकान्त ऐवा निजपदनी प्राप्ति सिवाय अन्य हेतुए उपकारी नथी" – श्रीमद्जीका यह वाक्य मुझे बहुत प्रिय लगता है । ४५.

*

दूसरेसे सुनना-माँगना – सब पामरता है, दीनता है, भिखारीपना है । मेरेमे क्या कमी है, जो मै दूसरेसे माँगूं ! 'मै तो स्वयं ही परिपूर्ण हूँ ।' ४६.

*

"अहो ! जे भावे तीर्थकरगोत्र बन्धय ते भाव पण नुकसान कर्ता छे" यह बात कहनेकी किसकी ताक़त है ? – यह तो गुरुदेवश्रीकी ही सामर्थ्य है ! ४७.

*

तीर्थकरकी दिव्यध्वनिसे भी लाभ नही होता, तो फिर और किससे लाभ हो ? वह [दिव्यध्वनि] **भी अपनेको** [स्वको] **छोड़कर एक भिन्न विषय ही है ।** [यहाँ पर सुननेके बहिर्मुखी परिणामसे छूटकर अतर्मुख होनेकी प्रेरणा है ।] **४८.**

*

विकल्पसे और मनसे [परलक्ष्यीज्ञानमे] **किया हुआ निर्णय सच्चा नही । अपनी ओर दृष्टिको तादात्म्य करनेपर ही अपनेसे किया हुआ निर्णय सच्चा होता है । पहले विकल्पसे-अनुमानसे** [स्वलक्ष्यीज्ञानमे] **निर्णय हो, उसमें भी लक्ष्य तो अन्तरमे ढलनेका ही होना चाहिए । ४९.**

*

'मैं' तो अडिग हूँ; किसीसे डिगनेवाला नही हूँ । जैसे इस देहाकारमे

स्थित आकाश अडिग है, हिलता-चलता नही; वैसे ही 'मै' भी अडिग हूँ। ५०.

*

अन्तरमे आनन्दकी घूँट पीते हुए बाहरमे आना गमे (रुचे) ही किसको ! बाहरमे आते ही तो बोझा लगता है। ५१.

*

प्रश्न :– चतुर्थ गुणस्थानमे [निर्विकल्प] अनुभव कितने समयके अन्तरालमे होता होगा ?

उत्तर :– ऐसे अनुभवके अन्तरालकी कोई मर्यादा नही है। वह तो यदि विशेष अशुभमे हो तो [सामान्यतया] अन्तराल लम्बा भी हो जाए और शुभमे हो तो जल्दी-जल्दी भी अनुभव होवे। किसीको महिनेमे दस बार भी हो। ५२.

*

चैतन्य-गठरी 'मै' ही हूँ – ऐसी पकड़ हो जानेसे मति-श्रुतज्ञान अन्तरमे ढल जाता है; इसलिए अन्तरमे ढलनेके लिए [उपदेशमे] कहनेमें आता है। ५३.

*

'मै' वर्तमानमे ही समझणका पिण्ड हूँ। ५४.

*

[असाताके उदयमे] सम्यग्दृष्टिको दुःखका वेदन होता है, लेकिन अपने स्वभावकी अधिकताके वेदनमे उस वेदनकी गौणता हो जाती है। ज्ञानमें शान्तिके वेदनके साथ-साथ दुःखका वेदन आता है, परंतु वह वेदन मुख्य नही होता। ज्ञानीको अपने स्वभावकी ही अधिकता रहती है, अपने स्वभावकी अधिकता कभी नही छूटती। ५५.

*

जब दृष्टि अपने स्वभावमे प्रसर जाती है, तब पाँचो समवाय अपने ज्ञानमें ज्ञेय हो जाते हैं। ५६.

*

अज्ञानी उत्पाद-व्ययके साथ-साथ चलता जाता है । [पर्यायदृष्टि होनेसे, परिणामका उत्पाद-व्यय होनेपर स्वयका उत्पाद-व्यय अनुभवता है ।] **परन्तु ज्ञानीने नित्यमे (द्रव्यमें) अपना अस्तित्व स्थापित किया है अतः वह उत्पाद-व्ययके साथ नही चला जाता, किन्तु उत्पाद-व्ययको जान लेता है । ५७.**

*

ज्ञानकी पर्याय आती है अन्दरसे, परन्तु [अज्ञानीको] **बाहरका लक्ष्य होनेसे ऐसा दिखता है कि मानो पर्याय बाहरसे आती हो; इसलिए अज्ञानीको परसे ज्ञान होता है — ऐसा भ्रम हो जाता है । ५८.**

*

अनन्त तीर्थंकर हो गए, लेकिन अपने तो गुरुदेवश्री ही सबसे अधिक है । जैसे कि — अपनेको धनकी ज़रूरत हो और कोई लखपति अपनी ज़रूरत-अनुसार धन दे देवे, तो वह (लखपति) अपने लिए तो अन्य करोड़पतिसे भी अधिक है । — ऐसे ही, गुरुदेवश्री अपने लिए तो तीर्थंकरसे भी अधिक है, अपना हित तो इनसे हुआ है । ५९.

*

[द्रव्यलिगीकी भूल] **द्रव्यलिगी होकर ग्यारह अंग तक पढ़ लेते है, परन्तु त्रिकाली चैतन्यदलमे अपनापन स्थापित नही करते; — यही भूल है, दूसरी कोई भूल नही । ६०.**

*

पू. गुरुदेवश्रीने शास्त्र पढ़ते समय कहा कि — जैसे व्यापारमे बहीके पन्ने फेरते है वैसे ही ये पन्ने है, कोई फ़र्क़ नही; यदि इधरकी [ध्रुव चैतन्यकी] **दृष्टि नही, तो दोनों समान है । ६१.**

*

तीर्थंकर-योग और वाणी मिली तो ठीक है, भविष्यमे भी इसी भावसे मिलेगी — ऐसे उसमे हौस (उत्साह-रस) आता है, तो उससे कैसे छूटेगा ? लाभ मानता है तो कैसे छोड़ेगा ? इससे [ऐसे भावसे] **नुकसान ही है,**

लाभ नहीं; लाभ तो अपनेसे ही है, वर्तमानसे ही ख़ुदसे लाभ है; ऐसा ज़ोर न होवे तो परमे अटक जाएगा । [बहिर्मुख परिणामका रस, परिणामको अतर्मुख होनेमे बाधक होता है, ऐसा यहाँ अभिप्राय है ।] **६२.**

*

प्रश्न :— आत्मानुभव होनेके बाद ज्ञानीजीव न्याय-नीतिसे धनादिकी प्रवृत्ति करते है न ?

उत्तर :— करना-धरना नहीं रहा, जो पर्याय आनेवाली है वह योग्यतानुसार आ जाती है । परन्तु उधर उसका [ज्ञानीका] **लक्ष्य नहीं, लक्ष्य तो इधरका** [अन्तर ज्ञायकतत्त्वका] **है । अन्तरमें एकत्व हुआ तो (स्वतः) परिणाम** [विकार] **मर्यादित हो जाते है । लेकिन मर्यादित ही होता है...होता है —ऐसा कहनेसे, उसकी** [कहनेवालेकी] **दृष्टिमे परिणामको मर्यादामें रखनेका ही प्रयत्न रहता है, अर्थात् परिणामको ही** [एकत्वबुद्धिपूर्वक] **देखता रहता है; और परिणामकी मर्यादाको देखते रहनेसे अपरिणामीका ज़ोर छूट जाता हैं । इसीलिए कहते हैं कि जो परिणाम होनेवाला है वो हो जाता है । ६३.**

*

तीव्र प्यास [जिज्ञासा] **लगनी चाहिए । प्यास लगे तो जैसे-तैसे बुझानेका प्रयत्न किये बिना रहे ही नही । ६४.**

*

प्रश्न :— अनुभवके लिए विचार-मनन-घूँटणमें रहना चाहिए ?

उत्तर :— पर्यायमें बैठकर [– पर्यायमे 'मै-पना' रखकर अर्थात् पर्यायमे अस्तित्वकी स्थापना करके] **घूँटण-मनन करनेमें पर्यायमें ठीकपना** [सन्तोष] **रहता है । और द्रव्यमे बैठनेसे** [– द्रव्यमे अस्तित्व स्थापित करनेसे] **घूँटण-मनन सहज होता है; घूँटण आदिमें ज़ोर नही रहता, सहज होता है; ज़ोर तो इधरका** [अन्तर्तत्त्वका] **रहता है । पर्यायमें बैठकर घूँटण आदि करनेसे अन्दरमें नही आ सकते । ६५.**

*

[अपने पूर्व-जीवनके बारेमे कहा] मुझे पहलेसे इन्द्रियविषयोकी ओरका रस नही था; और विकल्पोमे कषायकी भट्ठी जलती हो – ऐसा लगता था; ऐसे वेदनमे वो क्या है...क्या है ? – ऐसे विचारोंकी धुनमे रहता था; [इतनी धुन थी, कि] मुझे शहरके ख़ास व परिचित रास्तोके अलावा किसी रास्ते आदिका पता नही है; और कोई बातका ख़याल नही रहता था। विचारका ज़ोर पहलेसे ही था, उसमे तीक्ष्णता थी। दिगम्बरशास्त्र देखे तो इधरसे निकला और उधर क्रियाकाण्डमे पड़ा, परन्तु उसमें भी कोई शान्ति नही मिली, वह भी छोड़ दिया। पीछे 'आत्मधर्म' देखते ही चोट लगी और सब वात ख़यालमें आने लगी। ६६.

*

सब वातका मसाला गुरुदेवश्रीने तैयार कर रखा है; जिससे कोई बात विचारनी नही पड़ती। नही तो, साधक हो फिर भी (उसे) मसाला तैयार करना पड़ता है। ६७.

*

प्रश्न :– अनुभव होनेके बाद परिणाममे मर्यादा आ जाती है न ? विवेक हो जाता है न ?

उत्तर :– विवेककी वात एकबाजू रखो; एकदफ़ा विवेकको छोड़ दो ! [– पर्यायकी सावधानी छोड़ दो।] परिणाम मात्र ही 'मै' नही; 'मै' तो अविचलित खूँटा हूँ; मेरेमे क्षणिक अस्तित्व है ही नही। विवेकके बहाने भी जीव परिणाममे एकत्व करते है। ६८.

*

[अज्ञानीको] कषायकी मन्दतामे थोड़ा विषय छूटे तो इसमे ठीक मानने लगते है; लेकिन वह भी तीव्र कषाय ही है, उसमे कषाय (रस) भरा पड़ा है। ६९.

*

प्रश्न :– शुरुआतवालेको अनुभवके लिए कैसे प्रयत्न करना ?

उत्तर :– 'मै' परिणाम मात्र नही हूँ; त्रिकाली-ध्रुवपनेमे अपनापन

थाप देना (स्थापित करना) यही उपाय है । [अनादि पर्यायबुद्धि सहित मुमुक्षु जीव उपदेशबोधके अनुसार अपनी भूमिका योग्य परिणामसे प्रारम्भ करता है, परन्तु सर्व प्रथम पर्यायमेसे अस्तित्व उठा करके द्रव्यस्वभावमे अस्तित्व स्थापित करना है – ऐसा लक्ष्य प्रारम्भसे ही रहना अत्यावश्यक है, वरना पर्यायबुद्धि दृढ़ हो जानेसे द्रव्यदृष्टि उत्पन्न होनी मुश्किल हो जाती है, और मुमुक्षुतामे ही मनुष्य आयु पूर्ण हो जाती है और भवभ्रमणका छेद नही होता ।] **७०.**

❋

प्रश्न :– शास्त्रमे तो प्रयत्न करना...प्रयत्न करना, ऐसी बात आती है ?

उत्तर :– प्रयत्न करनेके लिए कहनेमे आता है; प्रयत्न होता भी है; लेकिन प्रयत्न भी तो पर्याय है । 'मै तो पर्याय मात्रसे भिन्न हूँ', प्रयत्न क्या करे ? – सहजरूप होता है । प्रयत्न आदिका 'होना' पर्यायका स्वभाव है । 'मै' उसमें न आता हूँ, न जाता हूँ; 'मैं त्रिकाली हूँ' – ऐसी दृष्टिमें प्रयत्न सहज होता है । ७१.

❋

विचार-मन्थन भी थक जाये, शून्य हो जाये; तब अनुभव होता है । मन्थन भी तो आकुलता है । एकदम तीव्र धगशसे (ज़ोरसे) अन्दरमे उतर जाना चाहिए । ७२.

❋

प्रश्न :– रामचन्द्रजीको सीताजीके लिए लड़नेका भाव आया; परन्तु धर्मराज (युधिष्ठिर)को द्रौपदीकी साड़ी खींची जानेपर भी बचानेका भाव नही आया – इसका क्या कारण ?

उत्तर :– वह तो परिणामोंकी योग्यता ही ऐसी भिन्न-भिन्न होती है । अनेक प्रकारके कषायभावोमेंसे जो होनेवाले है, वो होते है । उनको करें-छोड़ें क्या ? सम्यग्दृष्टिको परिणाम मात्रसे भिन्नता रहती है । 'मैं करनेवाला ही नही हूँ' – ऐसा रहना ख़ास बात है । ७३.

*

शास्त्रमे परिणाम देखनेकी बात आती है, तो [अज्ञानी] परिणाम देखते रहते है; ध्रुववस्तु रह जाती है । परिणामको ही देखते रहनेमे परिणामके साथ एकता होती है, परिणामीमे एकता नही रहती – अनित्यमे नित्य चला जाता है । पर्यायकी शुद्धि ऐसी है...ऐसी है – ऐसे पर्यायकी बातमे रस पड़ जानेसे नित्यका ज़ोर नही रहता; पर्यायमे ज़ोर करनेकी तो आदत पड़ी ही है । ७४.

*

आखी वस्तु [प्रमाणका विषय] बतानेमे नित्य और अनित्य बतानेमे आता है; इसमे अनित्य अंग दूसरे (द्रव्य)का नही है, ऐसा बतानेके लिए है । परन्तु दृष्टिका विषय तो 'नित्य ही हूँ' है, और अनित्य मेरेसे भिन्न ही है । उसका (उत्पाद-व्ययका) भाव और मेरा (ध्रुवका) भाव विरुद्ध है । ७५.

*

शक्तिकी तरफ़ देखे तो इतना भारी-भारी लगता है कि सम्पूर्ण जगत् फिर जावे तो भी वह [अनन्त शक्तियोका पिण्ड] नही फिर सकता है, ऐसा घनरूप है; उसमे कुछ विचलितता ही नही होती । ७६.

*

[अज्ञानी] परिणाममे बैठकर शक्तिको देखता है – 'शक्ति ऐसी है...ऐसी है' उसमे तो देखनेवाला और शक्ति दो अलग-अलग चीज़ हो जाती है । जैसे दूसरा दूसरेकी बात करता हो वैसा हो जाता है । [वास्तवमे द्रव्यस्वभावको देखते ही अभिन्नता होनी चाहिए, परन्तु परिणाममेसे एकत्व नही छूटनेके कारण द्रव्यस्वभावमे अभेदता नही होती ।] ७७.

*

दर्पणमे जो पर्याय दिखती है, वह तो ऊपर-ऊपर है, अन्दरमे जो दल पड़ा है वह तो जैसा का तैसा है, वह पर्यायरूप होता ही नही । – ऐसे त्रिकाली स्वभावका दल वैसा का वैसा ही है, पर्यायमे आता ही नही । ७८.

※

श्रद्धामे त्रिकालीपना आ गया तो विकल्पसे भिन्नता हो गई, वही मुक्ति है। चारित्रमे मुक्ति हो जायेगी। ७९.

※

प्रश्न :— वस्तुस्वभावका लक्ष्य हो जानेपर कार्य होता ही है ?

उत्तर :— लक्ष्य और उसका ध्येय दूसरा होनेसे वस्तु दूसरी दिखती है, अतः लक्ष्यकी पर्यायसे देखना नही है। [यथार्थ लक्ष्यमे लक्ष्य करनेवाली पर्याय गौण हो जाती है।] 'मै ही स्वयं वस्तु हूँ' — ऐसे देखनेसे लक्ष्यकी पर्याय गौण हो जाती है, तो उस पर्याय पर वज़न नही जाता, मुख्यता नही आती, उसमे मुख्यता तो त्रिकालीपनेकी रहती है। ८०

※

बस, एक ही बात है कि 'मै त्रिकाली हूँ' — ऐसे जमे रहना चाहिए। पर्याय होनेवाली हो सो योग्यतानुसार हो जाती है, 'मै' उसमे नही जाता। क्षयोपशम हो, न हो; याद रहे, न रहे; परन्तु असंख्य प्रदेशमे, प्रदेश-प्रदेशमे व्यापक हो जाना चाहिए। ८१.

※

प्रश्न :— भगवानकी वाणी बहुत ज़ोरदार होगी ?

उत्तर :— वाणीमे क्या ज़ोर होता है ! अपनेमे ज़ोर हो तो वाणीमे ज़ोरका आरोप देते है। ८२.

※

द्रव्यलिगीको त्रिकालीके प्रति उत्साह नही आता; उत्साह आता तो 'त्रिकाली' हो जाता। ८३.

※

'कुछ करे नही तो गमे नही' ऐसी आदत [कर्ताबुद्धि] हो गयी है। लेकिन 'कुछ करे तो गमे नही' ऐसा होना चाहिए। ८४.

※

[आत्माके लिए] रुचिकी आवश्यकता चाहिए। दरकार होनी चाहिए। [विकल्पोसे] थकावट होनी चाहिए। तीव्र प्यास (तालवेली)

लगे तो ढूँढे ही । ८५.

*

जहाँ तक अन्दरमे [आत्मामे] डुबकी नही मारता, वहाँ तक प्रयत्न चालू रखना चाहिए । ८६.

*

प्रश्न :— रुचि बढ़ते-बढ़ते वस्तुकी महत्ता बढ़ती जाती है और सुगमता भी ज़्यादा भासती है ?

उत्तर :— रुचि बढ़ती है, ऐसे (पर्यायके) लक्ष्यमे भी पर्यायकी महत्ता होती है, उसमे [पर्यायमे] 'मै-पना' (अहम्पना) दिखता है तो त्रिकालीमे नही जम सकते । — यह तो विकल्पवाली रुचि है । 'मै तो परिणाम मात्रसे भिन्न हूँ' — ऐसे त्रिकालीका अनुभव होना, वो ही अभेदकी रुचि है । ८७.

*

कोई एकान्तसे वेदान्तमे खिच नही जावे, इसलिए दोनों बाते बतायी है । पर्याय दूसरेमे नही होती, कार्य तो पर्यायमे ही होता है; ऐसा कहें तो वहाँ [पर्यायकी रुचिवाले] चोट जाते है — ऐसा तो है न ! ऐसा तो होना चाहिए न ! अरे भाई ! क्या होना चाहिए ? — छोड़ दे सब बाते जानने की ! 'मै तो त्रिकाली ही हूँ', उत्पाद-व्यय कुछ 'मेरे' मे है ही नही । ८८.

*

प्रश्न :— शुरुआतवाला विचारमे बैठता है तो 'मै ऐसा हूँ, मै ऐसा हूँ' — ऐसा करता है, तो घण्टा-आधा घण्टामे थकान लगती है, सो क्यों ?

उत्तर :— विकल्पमे तो थकान लगे ही न ! 'मै ऐसा हूँ' — ऐसा अनुभव करनेमे शान्ति है । ८९.

*

एक ही 'मास्टर की' (Master Key) है; सब बातोमे — सभी

शास्त्रोमे एक ही सार है – 'त्रिकालीपनेमे अपनापन जोड़ देना' । ९०.

*

आनन्दके अनुभवमे तो रागसे भी भिन्न चैतन्य-गोला छुट्टा अकेला अनुभवमें आता है, उसके आनन्दकी क्या बात करे !! अन्दरसे निकलना ही गमे नही, बाहरमे आते ही भट्ठी-भट्ठी लगे । ९१.

*

प्रश्न :– पक्के निर्णय बिना 'मै शुद्ध हूँ', 'त्रिकाली हूँ', 'ध्रुव हूँ', ऐसे-ऐसे अनुभवका अभ्यास करे, तो अनुभव हो सकता है क्या ?

उत्तर :– नही ! पक्का निर्णय नही, लेकिन यथार्थ निर्णय कहो । यथार्थ निर्णय होनेके बाद ही निर्णयमे पक्कापन होता है, फिर अनुभव होता है । ९२.

*

प्रश्न :– सामान्यका विचार तो ज़्यादा चले नही और विशेषके विचारमें तो निर्विकल्पता होती नहीं ?

उत्तर :– 'मै शुद्ध हूँ' 'ऐसा हूँ' – ऐसे विकल्प करनेकी बात नही है । और विचार भी तो एक समयकी पर्यायमे होता है । यहाँ तो 'मै ऐसा ही हूँ' – ऐसे त्रिकालीमे अपनापन होकर, अनुभवपूर्वक परिणमन हो जाना चाहिए । विचार आदि तो पर्यायका स्वभाव होनेसे चलता ही है; परन्तु ज़ोर ध्येय स्वभावकी ओर रहता है, तो परिणति त्रिकालीकी ओर ढल जाती है । ९३.

*

चौथा गुणस्थानवाला जीव द्रव्यलिंग धारता है फिर भी स्थिरता कम है; और पंचम गुणस्थानवाला अशुभमे विशेष हो फिर भी (चौथे गुणस्थानवालेसे) स्थिरता विशेष है । क्योंकि चौथे गुणस्थानवाले द्रव्यलिंगीको शुभभावमे रस अधिक है और बाह्य उपयोग भी अधिक है; जब कि पाँचवे गुणस्थानवाला अशुभभावमे अधिक होते हुए भी (उसे) अन्तरमे ढलन अधिक रहती है । [चतुर्थ गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगीके शुभभावमें

अधिक है जब कि पचम गुणस्थानवर्ती श्रावकके अशुभभावमे भी विभावरस कम है। तत्त्वत मोक्षमार्गमे शुद्धताकी कमी-बेशीका नियम विभावरसपर आधारित है, न कि शुभाशुभभाव पर।] ९४.

※

प्रश्न :– चौथे गुणस्थानवालेको वस्तुका अनुभव है और स्थिरताका प्रयत्न भी करता है फिर भी अनुभवमे काल क्यो लगता है ?

उत्तर :– चारित्रकी पर्यायमे इतनी अस्थिरता है, पुरुषार्थकी कमी है, पर्यायकी ऐसी योग्यता है, लेकिन दृष्टिमे उसकी गौणता है। 'वर्तमानमें ही पूर्ण हूँ'' इसमे पर्यायकी कमती-बढ़ती गौण है। ९५.

※

अज्ञानी, पर्यायमे ही अपनापन, सन्तोष, अधिकता आदि रखते है। पर्यायमें उल्लास तो है न ! पर्यायमें विशेषता तो है न ! पर्यायने द्रव्यका महात्म्य तो किया न ! पर्याय अन्तरमे तो ढलती है न ! – ऐसे-ऐसे किसी न किसी प्रकारसे पर्यायमे ही वज़न रखते है। लेकिन पर्यायसे हटकर, 'मै तो त्रिकालीदल जैसा का तैसा हूँ, परिणाम मात्र मेरेमे नही है' – ऐसे ध्रुवपनेमे, अधिकता नही थापते। कारण कि वेदनमे तो पर्याय आती है, और द्रव्य तो अप्रकट है; अप्रकटको तो नही देखते है, पर्यायमे ही अपनापन रखते है।

लेकिन, यहाँ तो कोई भी पर्याय हो – सुख अनन्त हो या ज्ञान अनन्त हो या वीर्य अनन्त हो तो भी 'मुझे' कुछ परवाह नही, 'मै' तो स्वभावसे सुखस्वरूप ही हूँ। – ऐसे ध्रुव स्वभावमे ही अधिकपनेका वेदन करनेका है और शुद्धपर्यायोको भी गौण करना है – गौणपने वेदन करना है। ध्रुववस्तुमे 'मै-पना' स्थापित किये बिना, पर्यायसे एकत्व नही छूट सकता। ९६.

※

इस अपेक्षासे नित्य हूँ, इस अपेक्षासे अनित्य हूँ, ऐसे दोनों ही ठीक है – ऐसे (अज्ञानी) कहते है। अरे ! 'मै नित्य ही हूँ' – ऐसा ज़ोर देना

तो भूल गया ! तो क्या रहा ? — अनादिका जो था वो ही रहा । ९७.

*

विचार-मननसे वस्तु प्राप्त नहीं होती है । [अनुभव नही होता है] क्योकि ये पर्यायें बहिर्मुखी, मनके संगवाली हैं; वस्तु अंतर्मुख-ध्रुव है । ९८.

*

चैतन्यदलमे — असंख्य प्रदेशमें प्रसर जानेसे पर्याय दिखती ही नही है; (अर्थात्) ऐसी पर्यायको छोड़कर...ऐसी पर्याय करुँ — ऐसा नही होता । पर्यायमे साम्यभाव आ जाता है । ९९.

*

प्रश्न :— "किसी जीवके अलावा, सामान्यतः सभी जीवोंको मार्गके क्रमका सेवन करना पड़ता है" [– श्रीमद् राजचन्द्रजीका बोल] । — इसमे क्या कहना है ?

उत्तर :— क्या क्रम ? [हॅसते-हॅसते] कोई जीव सीधा अनुभव करके वस्तुको पकड़ लेता है; और बहुतसे जीवोकी परिणति चञ्चल होती है, इसलिए धीरे-धीरे शास्त्र आदिमे रुकते-रुकते इधर (अन्तरमें) ढलते है; इसे क्रमका सेवन कहा । १००

*

भगवानकी वाणी सुननमे [सुननेके लक्ष्यमें] अपना नाश होता है । जैसे स्त्रीका विषय है वैसे यह भी विषय है । [– परलक्ष्यी सभी भाव, विषयभावके समान ही है, क्योकि परमार्थसे तो परलक्ष्य होनेमे आत्म-गुणका घात ही होता है ।] १०१. .

*

असलमे बात तो यह है कि सुननमे जो महात्म्य आता है — वह नही, किन्तु अन्दरसे सहजरूपसे (स्वका) महात्म्य आना चाहिए । (बाहरमें) तीव्र थकावट हो तो महात्म्य अन्दरसे ही आता है । १०२.

*

अपरिणामीमे सदा ज़ोर आना चाहिए। परिणाममे विकल्पसे हटनेका और आह्लादरूप अनुभवमे जानेका भाव होता है, लेकिन अधिकता इसमे नही; अधिकता तो त्रिकालीमे ही रहनी चाहिए। १०३.

✣

श्रवण-वांचन आदि तो सब ऊपर-ऊपरकी वाते हे; अन्दरमेसे सहजरूप (भाव) आना चाहिए। १०४.

✣

यहाँ तो दातार हो जानेकी वात है। यहाँसे [दूसरे उपदेशदातारो] ले लूँ, ऐसी वात ही नही। एकवार लाभ मिला तो दूसरी वार भी लाभ मिल जायेगा, यह प्रत्यक्ष लाभ मिल रहा है न...ऐसे-ऐसे करके (अज्ञानी) उसमे ही रुक जाता है। अन्दरके दातारकी वात तो रही नाम मात्र, और वाहरके दातारकी मुख्यता !! १०५.

✣

शास्त्रमे वात आए कि वर्फ़के संयोगसे पानी ज़्यादा ठण्डा होता है; ऐसे अधिक गुणवानके संगमे रहनेसे ज़्यादा लाभ होता है – ऐसा सुननेपर, वहाँ अज्ञानी चौंट जाता है;...असंगकी वात छोड़ दी ! गुणहीनका संग छोड़कर गुणवानका संग किया, परन्तु असंगता रह गयी। [असगताका अभिप्राय रखकर ही सत्सगमे रहना योग्य है।] १०६.

✣

शास्त्रोमे अनेक तरहके कथन आते हैं तो अज्ञानी इनमे उलझ जाता है। लेकिन 'निश्चयकी वात मुख्य करके, निमित्तका ज्ञान करनेका है' यह भूल जाता है। क्योकि अनादिसे संगका अभ्यास है न ! इससे एक संग [अशुभ] छोड़कर, दूसरा संग [शुभको] पकड़ लेता है। १०७.

✣

अनुभवकी वात तो क्या कहे !! एक दफ़ा तो विजलीके करंटके माफ़िक अन्दरमे उतर जाना चाहिए। जैसे करंटका काल थोड़ा, फिर भी सारा शरीर झनझना उठता है; उसी तरह असंख्य प्रदेशमे

आनन्द-आनन्द हो जाता है । पीछे शुभाशुभ विकल्प आते है, परन्तु अनुभवमेंसे छूटना न चाहे तो भी छूट जाते है । छूट जाए तो छूटो...मगर 'मै तो यह [त्रिकाली आत्मा] **ही हूँ ।' १०८.**

*

सब शास्त्र पढ़ लेवें, तो भी अनुभव बिना उसका भाव ख़यालमे नही आता । 'सब अपेक्षा तो जान लेवें,' ऐसे [अज्ञानी] **उसमें** [जानपनेमे] **ही फँस जाते हैं । १०९.**

*

त्रिकालीका ज़ोर नही तो क्षणिक शुभाशुभमें पूरा का पूरा चला जाता है – क्षणिक दुःख आया तो त्रिकाली दुःख मानने लगे, क्षणिक सुख आया तो त्रिकाली सुख मानने लगे । और जो त्रिकालीमे अपनापन हुआ तो क्षणिक पर्याय जो योग्यतानुसार होनेवाली है वह हो...'मै' उसमे नही खिसकता । ११०.

*

[ज्ञाता-दृष्टाका स्वरूप बताते हुआ कहा] **निर्विकल्प अनुभव होते ही ज्ञातादृष्टा हो सकता है ।** [सिर्फ] **ऐसे विकल्पसे ज्ञाता मानकर, होनेवाला था सो हुआ, – ऐसा मानकर** [– ऐसे] **समाधानमे (जो) सुख मानते है; वह (सुख) तो जैसा : अघोरी मांस खानेमें, सूअर विष्टा खानेमें, पतंगा दीपकमें सुख मानता है, – वैसा है । निर्विकल्प अनुभव बिना धारणामें ठीक मानना, सुख मानना, यह तो कल्पना मात्र है; वास्तविक सुख नहीं । १११.**

*

पू. गुरुदेवश्रीने इतना स्पष्ट कर दिया है कि कमी नही है, सूक्ष्म पहलुओंका भी पूरा-पूरा ख़ुलासा [– मार्गका रहस्य खुला] **किया है ।** [परमार्थ-परम पदार्थको सम्यक् प्रकारसे दर्शाया है ।] **११२.**

*

योग्यता हो तो सुनते ही सीधे अन्दरमें उतर जाते हैं, इसलिए

कहते है कि 'ऐसी उनकी काललब्धि' । तो अज्ञानी कहता है कि अरे, पुरुषार्थको उड़ा दिया ! पर, अरे भाई ! पुरुषार्थ इससे जुदा थोड़े ही है ? ! कोई स्वच्छन्दता न कर लेवे, इसलिए 'पुरुषार्थ करना' ऐसा कहा है । त्रिकालीमे अपनापन होनेमें पुरुषार्थ तो होता ही है । लेकिन यह [ऐसा पुरुषार्थ कि] पर्याय जितना 'मै' नही हूँ, 'मैं तो त्रिकलीदल ही हूँ' । ११३.

÷

जो निर्विकल्पता होती है उसमें तो पूरा जगत्, देह, विकल्प, उघाड़ (क्षयोपशम ज्ञान) आदि कुछ दिखता ही नही; एक ख़ुद ही ख़ुद दिखता है । अन्दरमें जाए तो बाहरका कुछ दिखे ही नही । ११४.

÷

अरे भाई ! तू अपने सारे के सारे असंख्य प्रदेशमे चैतन्यमूर्ति हो, उसीमे बैठे रहो न ! उठकर कहाँ जाते हो ? ११५.

÷

'शास्त्रसे ज्ञान नही होता' ऐसा सुने और 'बराबर है' ऐसा कहे, परन्तु अन्दरमे [अभिप्रायमे] तो ऐसा मानता है कि बाहरसे [शास्त्र आदिसे] ज्ञान आता है । 'वाणीसे लाभ नही' ऐसा कहे, लेकिन मान्यतामे सुननेसे प्रत्यक्ष लाभ होता दिखे तो थोड़ा तो सुन लूँ, इसमे क्या नुकसान ? [– ऐसे भ्रममे अज्ञानी रहता है ।] अरे भैया ! इसमे नुकसान ही होता है, लाभ नही । ऊपरसे नुकसान कहे और अन्दरमें लाभ मानकर प्रवर्ते, यह कैसी बात ! अज्ञानी उसमे अटक जाते है । ११६.

÷

प्रश्न :– रुचि क्यो नही होती ?

उत्तर :– ज़रूरत दिखे तो अन्दरमे आए बिना रहे ही नही । सुनते है (उसमें) प्रसन्नता आदि होती है, लेकिन सुखकी ज़रूरत हो तो अन्दर आवे । ज़रूरत न हो तो वहाँ [प्रसन्नता आदिमे] ही ठीक माने; लाभ है, नुकसान तो नही न ! [– ऐसा भाव रह जाता है ।] ११७.

८–

*

विकल्पकी भूमिकामे भी (जिसको) निर्णय नहीं होता, उसको निर्विकल्प निर्णय होनेका अवकाश ही कहाँ है ? ११८.

*

[खुदका परिणाम बताते हुए कहा] इ...त...नी लगनी रहती है कि मैं कब एकान्तमे बैठूँ...एकान्तमे बैठनेकी लगन रहती है; फिर भी एकान्त नही मिले तो वैसे ही अन्दरमे एकान्त बना लेता हूँ। एकान्त न मिले तो इसके लिए तड़पता नही (आकुलित नही होता)। ११९. [अगत]

*

जैनदर्शन ही एक ऐसा है कि जो वीतराग होनेसे दूसरेको अपने समान बना लेता है, यह इसकी मूल विशेषता है। दूसरे मतवाले शिष्यको बहुत कुछ दे देवे, किन्तु पूरा तो नही देते, क्योकि वे कषाययुक्त है। १२०.

*

प्रश्न :— द्रव्यलिगी इतना स्पष्ट जानकर (भी) क्यो त्रिकालीमे अपनापन नही करता ?

उत्तर :— उसको सुखकी ज़रूरत नही है; क्योकि उसको एक समयकी उघाड़-पर्यायमे सन्तोष है, सुख लगता है; तो त्रिकालीको क्यो पकड़े ? [जिसको वर्तमान पर्यायमे सतोष होता है, उसको दर्शनमोह तीव्र होता है। और जहाँ सतोष होता है वहाँ ही अटकना होता है, वहाँ दु ख भी नही लगता। अत ऐसी स्थितिमे त्रिकाली स्वभावके प्रति पुरुषार्थ नही होता है।] १२१.

*

असलमें तो (मिथ्यात्वमें) तीव्र दुःख लगना चाहिए। जो तीव्र दुःख लगे तो सच्चे सुख बिना सन्तोष हो नही सकता। दुःखकी वेदना, सुखको शोधे बिना रहती ही नही। १२२.

*

[खुदके परिणाम बताते हुए कहा :] निर्विकल्प आनन्दकी तो बात क्या करे !! विकल्पके समयमे भी सुख और शान्ति तो बढ़ती रहती है। फिर भी निर्विकल्प आनन्द तो इससे भी बहुत ऊँचे दर्जेका है; इस आनन्दमेसे छूटनेसे तो इतना दुःख ही दुःख होता है कि जैसा बर्फ़मे पड़ा हुआ बर्फ़से छूटकर अग्निमे प्रवेश करे तो जैसा दुःख होता है, वैसा निर्विकल्पमेसे निकलनेपर होता है। (इसीसे) तो निर्विकल्पमे जानेकी लगन रहती है। १२३. [अगत]

✣

आख़िर कितना भी सुन लो, लेकिन सुख तो यहाँसे [अन्तरमे से] ही शुरू होता है। [सुनते ही प्रयास चालू होवे, वह पात्रता का लक्षण है।] यह थोड़ा सुन तो लूँ... इसमे क्या नुकसान है ?... पीछे अन्दरमे जाऊँगा, [– इस प्रकारके परिणाममें स्वभावकी अरुचि है।] यह बात ठीक नही है; और एक समयकी ज्ञानपर्यायमे विचार कर-करके भी क्या मिलेगा ? त्रिकालीकी ओर ज़ोर देनेसे ही क्षणिक पर्यायकी एकता छूटकर सुख मिलेगा। १२४.

✣

प्रश्न :– वर्तमान ज्ञानवेदन ख़यालमे आता है वैसे त्रिकाली सत् ख़यालमे क्यो नही आता है ? उघाड़मे तो युक्ति आदिसे आता है लेकिन अन्दरसे ख़यालमे क्यो नही आता ?

उत्तर :- जो उघाड़मे न्यायसे ख़यालमे आया, तो (वो) ख़यालवाली ज्ञानपर्याय भी तो कोई आधार पर खड़ी है; – तो वह आधारवाली वस्तु क्या है ? – ऐसे देखकर, उस आधारवाली शक्तिमे ही थँम जाना-प्रसर जाना, वो ही सत् स्वभाव है। [त्रिकाली स्वरूपमात्र ख़यालमे लेना है – ऐसा अभिप्राय नही रखकरके, अन्तरमे त्रिकाली आधारभूत शक्तिको स्वयके रूपमे देखनेका प्रयास करना चाहिए। जिससे सहज स्थिरता होगी।] १२५.

✣

ये (चार) गतियोकी बात तो बहुत स्थूल है। यहाँ तो 'सिद्ध-गति

और सिद्ध-पर्यायसे भी अधिकमें [ध्रुवमे] अपनापन करनेकी बात है।' १२६

*

प्रश्नः– पर्यायसे छूटें कैसे ?

उत्तरः– पर्यायसे तो छूटे हुए ही हैं। 'त्रिकाली' तो पर्यायमे आता ही नहीं। लेकिन पर्यायमे एकता कर रखी है – वह एकता, त्रिकालीमें थापनेकी है। १२७.

*

ज्ञानीको तो त्रिकालीमे ही अपनापन होनेसे (उसे) वांचन, श्रवण, पूजन आदिमें भी अन्दरसे [शुद्धिकी] वृद्धि होती रहती है। १२८.

*

देव, गुरु आदि निमित्तोका सांसारिकविषयोकी अपेक्षासे फ़र्क़ है; क्योकि सांसारिकविषय तो अपनी ओर झुकनेको कहते है; और देवादिक निमित्त, अपनी ओरके झुकावका निषेध करके स्वात्माकी ओर झुक जावो – ऐसा कहते है। इसलिए देवादिक निमित्तोमे फ़र्क़ कहनेमे आता है। लेकिन जो जीव, अपनी ओर नही झुकता है और देवादिककी ओर ही झुके रहता है, उसने तो सांसारिक विषयोंकी तरह ही इन्हे भी विषय बना लिया; [इस कारणसे] तो कोई फ़र्क़ रहा नही। १२९.

*

जब मुनिगण अपने लिए अपनी शास्त्रमे रमती हुई बुद्धिको व्यभिचारिणी मानते है, तो नीचेवालोंकी तो व्यभिचारिणीबुद्धि है ही। इसपर भी [अज्ञानी] जीव यहाँ ऐसे लेते है कि – मुनिगण तो अपने लिए बुद्धि व्यभिचारिणी मानें वह तो ठीक है; परन्तु अपन तो थोड़ी शक्तिवाले हैं, अपनेको तो शास्त्रादिका अवलम्बन लेना चाहिए ही – ऐसे ओथ (आधार) लेकर, वहाँ सन्तोष मानकर, अटक जाते है। 'पहलेमे पहला तो त्रिकालीमें प्रसर जानेका है' यही सर्व प्रथम कर्तव्य है। [शास्त्रमे उपयोग लगाते समय भी यह अभिप्राय होना चाहिए। शास्त्रका अवलम्बन

लेनेका अभिप्राय तो नही होना चाहिए।] १३०.

✻

एक समयकी पर्यायमें ही तो वेदन आता है; शक्तिमें तो वेदन है नही। इसलिए यह वेदन ही प्रसिद्ध होनेसे, उसको ही अज्ञानी 'आत्मा' मान लेता है। वास्तवमे तो ['नित्य स्वरूप'] **'आत्मा' क्षणिक पर्यायमें जाता ही नही, वैसा का वैसा ही त्रिकाल रहता है। — उसीमे अपनापन हुए बिना सुख-शान्ति हो नही सकती। १३१.**

✻

गुरुदेवश्रीके उपदेशमें इतना खुलासा है कि इस नीवॅसे धर्म पंचमकाल तक टिकेगा, ऐसा दिखता है। १३२.

✻

परिणाममे बैठकर (त्रिकाली) वस्तुको देखनेसे वस्तु भिन्न दिखती है। इसलिए परिणामसे भिन्न होनेके लिए वस्तुमें बैठकर देखना है, तभी वस्तुमे अपनापन [एकत्व] **होनेसे पर्यायका कार्य भिन्न दिखने लगेगा; और** [– ऐसी] **भिन्नता दिखनेसे पर्यायका नाश होते हुए भी** [द्रव्यमे] **अपनापन तो त्रिकाल ही रहता है; तभी तो पर्यायके नाश होनेसे आकुलता नही होगी; और इधरमे** [त्रिकालीमे] **बैठनेसे सुख-शान्ति बढ़ेगी। १३३.**

✻

असलमे तीव्र दुःख [मिथ्यात्वका] **लगे, तो सुख मिलता ही है। विकल्पमे इतना (तीव्र) दुःख ही दुःख लगे तभी सुखकी ओर जाते है, तो सुख मिलता है। १३४.**

✻

मुझे तो "ये षट् आवश्यक नही, लेकिन एक ही [अन्तर्मुख होना ही] **आवश्यक है" वह पढ़कर इतना आनन्द हुआ था कि वह मुझे स्पष्ट याद है! १३५.** [अगत]

✻

पू. गुरुदेवश्रीने वस्तु-स्वभाव कितना स्पष्ट कर दिया है ! वह तो पका-पकाया हलवा है; अपन तो सीधा खाते है, नही तो हमारी तो शास्त्रमेसे निकालनेकी इतनी शक्ति नही है । १३६.

*

'एक समयकी ज्ञानपर्याय स्वतन्त्र है, (उसमें) पूर्वपर्याय भी कारण नही; उसमें तीन कालके पदार्थ जाननेकी ताक़त है' – ऐसा सुनकर मुझे तो ऐसी चोट लगी कि तबसे मेरा पढ़ना कम हो गया ।...चलो न ! पर्यायका स्वभाव ही जाननेका है... तो सहज जाननेमे आ जाएगा, [जाननेके लिए] आकुलता क्यो करे !... यहाँ [अन्तरमे] सुख पीवो न !... न्याय आदि नक्की करनेमे [विकल्प वृद्धि होनेसे] आकुलता होती है... अपनेको तो सुख चाहिए । १३७.

*

असलमे बात यह है कि सबकी सब धारणा तो [अज्ञानी भी] सच्ची कर लेता है, परन्तु पर्यायमे बैठकर [अहभाव रखकर] द्रव्यको देखता है, तो द्रव्य जुदा का जुदा पड़ा रहता है । पर्यायमें बैठकर द्रव्यको नही देखना है, किन्तु द्रव्यमे बैठकर द्रव्यको देखना है, तो द्रव्यमें अपनापना प्रसर जाता है [– अभेदता होती है ।] पर्यायमें बैठनेसे [– एकता करनेसे] द्रव्य तो दूर ही पड़ा रहता है । १३८.

*

गुरुदेवश्रीकी सिहगर्जना ऐसी है कि दूसरे को निर्भय बना देती है । वही जंगलके सिंहकी गर्जना तो दूसरेको भयाकुल बनाती है । – दोनोंमें बहुत फ़र्क़ है । १३९.

*

थोड़ा यह तो कर लूँ... यह तो जान लूँ... सुन तो लूँ – यह सब [अभिप्राय] अटकनेका रास्ता है । [अपने] असंख्य प्रदेशमे प्रसरकर, पूरे का पूरा व्यापक होकर, तन्मय रहो न !... सुख-शान्ति बढ़ती जाएगी, विकल्पादि टूटते जायेगे । १४०.

*

भूख-प्यास लगे तो उसको बुझाये बिना चैन नही पड़ता। ऐसे, जो विकल्पमें दुःख ही दुःख लगे तो सुख शोध ही लेवे, उसके बिना चैन ही न पड़े; ऐसा ही स्वभाव है। १४१.

÷

प्रश्न :— विकल्पमे दुःख ही दुःख लगे — ऐसा जो कहा, तो यह तो नास्तिपक्षमे गया ?

उत्तर :— नास्ति भी द्रव्यकी अपेक्षासे है; बाकी तो उस [पर्याय] अंशमे दुःख निकलकर सुख प्रकट होता है। और ऐसा दुःख लगे तभी तो द्रव्यकी ओर आएगा। १४२.

∴

प्रश्न :— त्रिकालीमे प्रसरनेमे ज्ञान कारण है या दृष्टि कारण है ?

उत्तर :— मुख्यतौरसे तो [ज्ञानीको] दृष्टि ही कारण है, फिर ज्ञानको भी कहते है; दोनो साथमे ही है। दृष्टि प्रसर जाती है तो ज्ञान भी हो जाता है।

प्रश्न :— दृष्टि तो जानती नही ! ज्ञान ही जानता है ?

उत्तर :— इस अपेक्षासे [स्वलक्ष्यी] ज्ञानको भी कारण कहते है। परन्तु, यथार्थमे तो ऐसे ग्यारह अंगवालेको [परलक्ष्यी] ज्ञान तो हो जाता है, दृष्टि नही होती। — इसीसे यथार्थमे तो दृष्टिको ही कारण कहते है। [यहाँ स्वरूपमे एकाग्रता होनेके विषयके प्रश्नका स्पष्टीकरण दिया है। परन्तु श्रद्धाज्ञानके होनेके विषयमे स्पष्टीकरण नही समझना चाहिए। क्योकि ज्ञानपूर्वक ही श्रद्धान होता है यह त्रिकाली-अटल सिद्धान्त है।] १४३.

÷

निर्विकल्प ध्यानके पहले अनेक प्रकारका चितन घण्टो तक चले फिर भी वह निर्विकल्पताका कारण नही है, वह तो अटकाव है। निर्विकल्पता तो अन्दरमे उग्र अवलम्बनसे ही होती है। विचाररूप ध्यान तो रुकावट है,... होता है... आ जाता है.... लेकिन, वह अवलम्बन नही है। अवलम्बन तो अन्दरमे लिया हुआ है, उसमे ही उग्रता होनेपर निर्विकल्पता

होती है। यदि अटकावरूप विचार आदिको कारण माना जाए तो विचारसे छूटकर अन्दर आ नही सकते। [– इन्हे] अटकाव माननेपर ही अन्दर आ सकते है। मन्द शक्तिवश पर्यायमे अनेक तरहका विचार चलता है, उसमे उल्लास भी होता है, किन्तु ऐसा चितन आदि कारण नहीं, बल्कि अटकाव ही है। १४४.

*

प्रश्न :– परिणाम अन्दरमे जमते नही, बाहर क्यो दौड़ते है ?

उत्तर :– बछड़ेको बॉधे नही तो बाहर चरने लगता है; यदि खूॅटेमे बॉध दे तो फिरा तो करे, परन्तु वहॉसे बाहर नही जा सकता है। – ऐसे ध्रुवमे पर्यायको बॉध देवे तो पर्याय ध्रुवमे ही फिरा करेगी, बाहर नही जाएगी। फिरना तो उसका [पर्यायका] स्वभाव है; लेकिन ध्रुव-खूॅटेमें ही फिरेगी, और सुख मिलता रहेगा। १४५.

*

अपनेको तो सुख पीनेकी अधिकता रहती है, जाननेकी नही। और खरेखर तो विकल्पसे जो जानते है सो तो सच्चा जानना ही नही है; अन्दरमे अभेदतासे जो सहज जानना होता है – वही सच्चा ज्ञान है। परसत्तावलम्बी ज्ञानको तो हेय कहा है न ! शिवभूतिमुनि विशेष जानते नही थे, फिर भी अन्दरमें सुख पीते-पीते उनको केवलज्ञान हो गया। १४६.

*

देव, शास्त्र, गुरु, श्रवण, विचार, वांचन, मनन, उघाड़ और एक समयकी पूर्व-उत्तर पर्याय जो-जो साधनरूप कहनेमे आता है – वह सब [निश्चयसे] बाधकरूप है। – ऐसा नही माने, तब-तक तो त्रिकालीमे आ नही सकते। ऊपर-ऊपरसे बाधकरूप कहे और अन्दरमे साधनरूप मानता रहे, तो वहॉ ही झुकाव रहा करेगा, त्रिकालीमे नही आ सकेगा। १४७.

*

पहले तो यह बात नक्की कर लो कि सुननेसे ज्ञान नही होता;

सामान्यसे [– सामान्य स्वभावके आश्रयसे] ही ज्ञान होगा। फिर भी सुननेका विकल्प उठे तो उसमे खेद होना चाहिए। 'मै' तो वर्तमानमे ही परिपूर्ण हूँ, वर्तमानसे ही 'मुझे' कुछ करना नहीं है। परिणाममे पुरुषार्थ सहज होता है। करुँ... करुँ... यह तो आकुलता है, बोझा है। १४८.

*

यहाँ तो परिणाम मात्रको व्यवहार कहते है। मोक्ष और मोक्षमार्ग सब व्यवहार है। 'मै तो अक्रिय ध्रुव तत्त्व हूँ'। १४९.

*

अपना सुख देखा नही, इसलिए किसके साथ मिलान करे कि – यह देव-गुरु आश्रित वृत्ति भी दुःख है; [अज्ञानीने] इसीलिए एकान्त दुःखको सुख मान लिया है। १५०.

*

वस्तु-स्वरूप जैसा है वैसा ही है; तो फिर अपेक्षा लगाकर ढीला थोड़े ही हो सकता है ? १५१.

*

अपने द्रव्यमे एकत्व किए विना, रागसे और शरीरसे भिन्नता नही हो सकती; भले ही 'भिन्न है... भिन्न है' ऐसा कहे। लेकिन अपने द्रव्यमे एकत्व होते ही सहज भिन्नता हो जाती है, विकल्प उठाना नही पड़ता; सहज ही भिन्नता रहती है। १५२.

*

प्रश्न :– अधिक गुणीका बहुमान करना कि नही ?

उत्तर :– अभिप्राय तो दूसरेका बहुमान करनेका होवे ही नही; और खिंचावके कारण बहुमान आजाए तो उसे दीनता माननी चाहिए, उसका भी खेद होना चाहिए। १५३.

*

देव-गुरुके प्रति जो मचक होती है वह भी नपुंसकता है; और अभिप्रायमे मचक होवे तो [अनन्तानुबन्धी कषायके कारण] वह अनन्ती

नपुंसकता है। १५४.

*

(शास्त्रमें) मुनिके लिए ऐसा कहा है कि – यदि अन्य मुनि बीमार हो तो वैयावृत्य करना। – वह तो विकल्प होवे तो ऐसा होवे, उसकी बात है। अपनेमे एकाग्र हो तो प्रथम तो वही कर्तव्य है; विकल्प कर्तव्य नही। १५५.

*

अधिक पुण्य – वह तो विष्टाका बड़ा ढ़ेर है। १५६.

*

केवलज्ञानकी पर्याय भी जब उपेक्षणीय है [दृष्टिका विषय नही]; तब फिर क्षयोपशमज्ञानकी तो बात ही क्या? [द्रव्यदृष्टि किसी भी – केवलज्ञान तककी – पर्यायको विषय नही करती। तब छद्मस्थ साधकको अपनी क्षयोपशमज्ञानकी पर्यायकी प्रधानता किसी भी हालतमे, अर्थात् ज्ञानकी निर्मलता व विशालता कितनी भी क्यो न हो उसकी मुख्यता, आनी ही नही चाहिए।] १५७.

*

कोई भी कथन समझनेके लिए यदि (वक्ताके) अभिप्रायको छोड़कर अर्थ करने जाएगा तो अर्थ ग़लत ही होगा। १५८.

*

शुभरागको कर्तव्य माननेकी तो बात ही कहाँ? 'मेरा' तो कोई कर्तव्य ही नही, ऐसा पहले पक्का होना चाहिए। [ध्रुवमे कर्तव्य कैसे हो सकता है? 'मै तो ध्रुवतत्त्व हूँ'।]१५९.

*

पहले विकल्पात्मकतामें तो यह निर्णय कर लो कि, परिणामकी अपेक्षासे इधर [अन्तरमे] ही जमनेका है; दूसरा कुछ भी करनेका नहीं है। – ऐसे विकल्पात्मक निर्णयका भी अवलम्बन नही होना चाहिए। और 'मैं तो अपरिणामी हूँ, परिणाममे जाता ही नहीं' – ऐसा अभ्यास

होनेपर दृष्टि जम जायेगी। [विकल्पात्मक निर्णय सही होते हुए भी निर्णयरूप परिणामकी मुख्यता नही होनी चाहिए, परन्तु अपरिणामी निजस्वरूपके प्रति पुरुषार्थ तीव्र होना चाहिए। निर्णय या समझ यथार्थ होनेसे ऐसे यथार्थ परिणाम पर वजन रह जाता है तो वह भी ध्रुवस्वभावके अवलम्वन लेने हेतु प्रतिकूल है।] १६०.

*

इधर [स्वद्रव्यमे] दृष्टि जम गयी... बस, वही मुक्ति है; मुक्ति करनी नही है। १६१.

*

दूसरी सब जगहोसे छूटा; परन्तु इधर आया तो देव-गुरुको चौटा... यहॉसे ज़रूर होगा। — वह तो वैसा का वैसा ही हुआ, सिर्फ़ नई दुकान चालू की — मात्र निमित्त ही बदला। १६२.

*

चाहे जैसी बात व कितनी ही बार कहनेमे आवे लेकिन 'त्रिकालीकी अधिकता कभी नही छूटनी चाहिए'। कथन चाहे जैसा आवे, परन्तु यह बात क़ायम रख करके ही अन्य सब बाते है — त्रिकालीकी अधिकता कभी नही छूटनी चाहिए। १६३.

*

देवकी ओर देखो तो देव यह कहते है कि — मै तुमारी सन्मुख नही देखता हूँ, और तुम भी मेरी सन्मुख मत देखो, अपनी सन्मुख देखो! १६४.

*

षट्आवश्यक कहे जाते है, परन्तु वास्तवमे तो ये अनावश्यक है। [श्रावककी भूमिकामे] विकल्प आता है तो वह किस प्रकारका आता है — ऐसा बतानेके लिए कहनेमे आता है। वास्तवमे तो उजमे भी खेद और दुःख लगता है; स्वभावसुखमे जमते ही विकल्पकी आकुलता भासती है कि — ये आवश्यक आदि भी दुःख

भाव हैं, (तो) ये उपादेय कैसे ? १६५.

*

शुद्ध जीवास्तिकायकी दृष्टि विना, शास्त्रमे जो कथन आते हैं उनकी कितनी हद तक मर्यादा है ? — वह समझमें नहीं आती। और दृष्टि होनेपर, ज्ञानमें सहज ही सब बातें समझमे आ जाती है। १६६.

*

सर्वार्थसिद्धिके देव ३३-३३ सागर तक चिंतन-मनन करते है फिर भी केवलज्ञान नही होता; और इधर अन्तर्मुहूर्त एकाग्रता होनेपर केवलज्ञान हो जाता है। जाननेसे (जानपनेसे) प्रयोजन-सिद्धि नही होती; लीनतासे सिद्धि होती है। [मोक्षमार्गमे प्रयोजनकी सिद्धिमे मात्र पुरुषार्थका ही अधिकार है। ज्ञानकी विशालता और सूक्ष्मता पुरुषार्थका कारण नही होती। किन्तु ज्ञानकी स्वरूपग्रहणशक्ति जितनी बढ़ती है उतना ही पुरुषार्थ साथ साथ बढ़ता है।] १६७.

*

जिसकी जो रुचि होती है उसको उसी रसकी मुख्यता होती है; इसीसे मरण-समय भी उसी रसकी उग्रता हो जाती है। १६८.

*

अशुद्धपर्याय (अंश)का मुख बाहरकी ओर है; और शुद्धपर्याय (अंश)का मुख अपनी ओर है; दोनोके मुँहकी दिशा विरुद्ध है, इसीसे वे सहज ही भिन्न दिखते है। १६९.

*

यहाँ तो महाराजसाहबने भूमिका तैयार कर दी है; बस ! अब तो थोड़ा-सा सुखका बीज बो देना... जिससे महा आनन्द होवे। १७०.

*

प्रश्न :— उपयोगको अन्दरमें वालनेकी [अन्तर्मुख करनेकी] बात है न ?

उत्तर :— इसमे भी उपयोगमें [— पर्यायमे] अपनापन, और अपनी

ध्रुववस्तुमे परायापन हो जाता है। 'उपयोग 'मेरी' ओर आएगा' — ऐसा होना चाहिए। १७१

*

फूल बाग़मे हो या जंगलमे; उसको कोई सूँघो या न सूँघो; उसकी क़ीमत तो स्वयंसे है; कोई सूँघे तो उसकी क़ीमत बढ़ नही जाती, अथवा नही सूँघे तो वह कुम्हला नही जाता। — इसी तरहसे कोई अपनेको जाने या न जाने उससे अपना मूल्य थोड़ा ही है? अपना मूल्य तो अपनेसे ही है। कोई मान-सन्मान देवे, न देवे — सब धूल ही धूल है, उसमे कुछ नही है। १७२.

*

पूज्य गुरुदेवश्री अपने लिए तो अनन्त तीर्थकरसे अधिक है, क्योकि अपना कार्य होनेमे निमित्त हुए — इसीलीए।

दूसरा, उन्होने यह बताया कि, भैया! "तुम सिद्ध तो क्या?... सिद्धसे भी अधिक हो, अनन्त सिद्ध-पर्याये जहाँसे सदैव निकलती रहे, ऐसे तुम हो।" — ऐसा उत्कृष्ट वाच्य पूज्य गुरुदेवश्रीने बतलाया! १७३.

*

द्रव्यकी सलामती देखते... पर्याय भी सलामत हो जाती है। १७४.

*

प्रश्न :— ज्ञान तो करना चाहिए न?

उत्तर :— अरे भाई! ज्ञान अपना स्वभाव है कि नही? — स्वभाव है तो ज्ञान तो होता ही है; 'करना चाहिए' — इसमे तो वज़न पर्यायपर चला जाता है और अक्रिय सारा पड़ा रह जाता है।

'मै वर्तमानमे ही अक्रिय हूँ, कुछ करना ही नही है' — ऐसी दृष्टि होनेपर, ज्ञान-क्रिया सहज उत्पन्न होती है। जानने आदिका विकल्प भी आता है, परन्तु इस पर वज़न नही जाना चाहिए; यह सब गौण रहना चाहिए। १७५.

*

अपनी कार्य-सीमा परिणाम तक ही है, उससे आगे नही जा सकते है। लड्डू आदि भोग ही नही सकते; लेकिन जो थोड़ी-सी मचकसे राग होता है, वह तो मुझे सहज सुखके आगे विष-तुल्य लगता है। १७६.

*

कोई तो धारणा कर लेते है; कोई धारणा करके रटन करते है; लेकिन भाई ! धारणा करके क्या तेरेको किसीको दिखाना है कि 'मैं जानकार हूँ' ?

प्रश्न :— लेकिन अपने स्वरूपकी प्राप्ति न हो तब तक निर्णयके लिए तो धारणा चाहिए न !

उत्तर :— धारणा सहज होती है। 'मै धारणा कर लूँ' — यह तो बोझा उठाना है। धारणाके ऊपर तो वज़न ही नही आना चाहिए। धारणा होनी तो चाहिए न ! — ऐसा वज़न नही होना चाहिए; सहज हो तो हो। [स्वरूपकी प्राप्तिके लिए विधि-विषयक जानकारीकी धारणा होती है, फिर भी ऐसी सही धारणापर वजन जानेवालेके अभिप्रायमे पर्यायका आश्रय करनेका अभिप्राय जो अनादिसे है वह चालू रह जाता है और वह अन्तर्मुखता होनेमे बाधक कारण बन जाता है।] १७७.

*

प्रश्न :— चितन करना (चाहिए) क्या ?

उत्तर :— चितन भी भट्टी-सा लगना चाहिए; वह भी दुःखभाव लगे तो वहॉसे हट सकेंगे, नही तो वहॉसे क्यों खिसकेंगे ? मार्गमें आता है तो ठीक; किन्तु उसको दुःखभाव जानना, उसमे एकत्व नही करना। चितन भी चिन्ता है, आकुलता है। 'चितन जहॉसे उठता है... उस भूमिमे जमे रहो।' १७८.

*

[श्रोता] साक्षीभाव रहना चाहिए ?

[श्री सोगानीजी] 'अपन' तो साक्षीभावमें भी नहीं आते। 'अपन' तो ऐसी भूमि है जहॉसे एक साक्षीभाव तो क्या... अनन्त साक्षीभाव

उठते रहेगे। एक समयके साक्षीभावमे 'मैं' पूरा का पूरा आजाऊँ तो 'मेरा' नाश हो जाए। साक्षीभावमें [साक्षीभावके विकल्पमे] भी एकत्व नही करना है। जहाँसे वह [साक्षीभाव] उठता है.. वो ही भूमि – नक्कर (स्थिर, ठोस) स्थल –'मै' हूँ। १७९.

*

वस्तु वर्तमानमे प्रत्यक्ष स्थित है, वर्तमानमे ही विद्यमान है। एक समयकी पर्यायके पीछे पूर्ण वस्तु स्थित है; लक्ष्य करे उसी क्षण दिख जाती है। [अर्थात् वेदनमे आ जाती है।] १८०.

*

देव-शास्त्र-गुरुकी इज़्ज़त करते है, क़ीमत करते है, तो वे ही कहते है कि – तू तेरी क़द्र कर ! १८१.

*

'स्वयंसे ही लाभ है' ऐसा न माने तो अन्यसे लाभ मानना ही पड़े, यह नियम है। और 'अपने से ही लाभ है' ऐसा माने तो परसे लाभ माना ही नही जाता, यह भी नियम है। १८२.

*

योग्यता और पात्रता ठीक [उत्कृष्ट] होवे तो एक ही क्षणमे काम हो जाये, ऐसी बात है। १८३.

*

पहले विकल्प उठे और बादमे समाधान करे कि 'ये स्वतन्त्र है' [तो यह यथार्थ नही]। विकल्पके साथ ही साथ उसी क्षण उससे भिन्नता होनी चाहिए। १८४.

*

प्रश्न :– धारणाके बिना अनुभव हो सकता है क्या ?

उत्तर :– धारणा नही होवे और अनुभव हो जाये, यह सवाल ही यहाँ नही है। यहाँ तो कहते है कि धारणा होनेपर भी [बिना पुरुषार्थ] अनुभव नही होता। धारणामे 'मै चैतन्यमूर्ति हूँ' – ऐसा टाँक दो, और

इसी स्थल पर जम जाओ, तब अनुभव होता है । १८५.

*

'मै' ऐसी भूमि हूँ जहाँसे क्षण-क्षणमे नया-नया फल उत्पन्न होता ही रहता है । जैसे भूमिसे ऋतु-ऋतुके अनुसार अनेक फल उत्पन्न होते रहते है, वैसे 'मै ऐसी भूमि हूँ' जहाँसे सुखका फल उत्पन्न होता ही रहता है ।'मै' अमृतरससे भरा हुआ हूँ । 'मै' तो ऐसी भूमि हूँ जिसे फलके लिए जलकी भी ज़रूरत नही रहती, क्योकि 'मै' स्वयं ही सुखरूप हूँ; दूसरे पदार्थोकी अपेक्षा ही नही । १८६.

*

प्रश्न :— जम जाना भी तो पर्याय ही है न ?

उत्तर :— अरे भाई ! आख़िर कार्य तो सब परिणाममे ही आयेगा । परिणामसे घबराओ मत, लेकिन परिणामपर खड़े भी मत रहो । कार्य तो परिणाममे ही आता है । अपरिणामीमें जम गया (स्थिर होगया) तो कार्य तो परिणाममे ही आयेगा और वेदन भी पर्यायका ही होगा । 'अपरिणामी' 'परिणाम' दो अंश मिलकर पूरी [प्रमाणज्ञानकी विषयभूत] वस्तु है । १८७.

*

अपन तो अपने ही सुख-धाममे बैठे रहे, जमे रहे...बस ! — यही एक बात क़ायम रख करके, दूसरी-दूसरी सभी बातोको खतिया लो । १८८.

*

(अज्ञानी जीवको) ज्ञानका थोड़ा क्षयोपशम होवे और थोड़ा विकास भी होता जाए तो वह उसमे ही रुक जाता है; मै थोड़ा समझदार तो हूँ और पहलेकी अपेक्षा शान्ति भी तो बढ़ रही है, इस तरहसे मै आगे बढ़ तो रहा हूँ — ऐसे सन्तोष मानकर अटक जाता है । १८९.

*

यहाँ (अन्तर्मुख) बैठते ही...बस !...इधर अपने असंख्यात प्रदेशमे दृष्टि लगाते ही यहीसे सीधा सिद्धलोकमें जायेगा । १९०.

*

'वर्तमानमे ही कृतकृत्य हूँ' – ऐसी दृष्टि अपनी वस्तुमे हुयी, तो करूँ...करूँ – ऐसी कर्तृत्व बुद्धि छूट गयी...वस ! यही मुक्ति है। १९१.

⁖

'अपने सुख-धाममे सदा जमे रहना' वस ! – यही वात वारह अंगका एकमात्र सार है। १९२.

⁖

दृष्टि खुले विना शास्त्रका अर्थ भी यथार्थरूपसे खतिया नही सकते। खतियानेमे इधरकी [– आत्माकी] मुख्यता कभी गोण नही होनी चाहिए; इधरकी मुख्यता क़ायम रखकर ही सव कथन खतियाने चाहिए। १९३.

⁖

ज्ञानीको भी क्षणिक विकल्प उठते है लेकिन पूर्वकी [अज्ञानदशाकी] माफ़िक [विकल्पमे] अनन्त ज़ोर नही है। विकल्प उठते है, किन्तु पछाड़ खाकर ख़त्म हो जाते है। १९४.

⁖

[परिणतिमे] सहज सुखका अनुभव [रागके] साथ-साथ वर्तता ही है, इसीलिए ज्ञानी हर्षभावको भी प्रत्यक्ष दुःखरूप जानते है। परन्तु जिन्हे सहज सुख प्रकट नही हुआ वे किसके साथ मिलानकर हर्षभावको दुःखरूप मानेगे ? १९५.

⁖

जो आनन्दमे मस्त है, उसकी मस्तीमे आनन्दकी ही वात आती है। १९६.

⁖

"शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुख धाम" – कैसी सुन्दर वात श्रीमद्‌जीने की है ! एक पंक्तिमे सव वात आगई। वस, भाई ! तू इतना ही विचार [ज्ञान] कर। १९७.

⁖

परिणामका कार्य परिणाम करेगा, तुम उसकी दरकार छोड़ो; तुम तो अपने नित्यघरमे ही बैठे रहो। अपने घरमे [द्रव्यस्वभावमे] बैठे,

तो सब सहज ही सहज है । परिणामका चश्मा [पर्यायमे 'मै-पना'] लगाया हुआ हो तो (स्वयं) परिणामरूप ही भासता है, अपरिणामी नहीं भासता । १९८.

*

'मै अधिक हूँ' – यही स्वयंका महात्म्यभाव है । 'मै' कोई भी भावमे-विकल्पमे खिसकता नही, तणीजता (खींचिजता) ही नही, वैसा का वैसा और वही का वही हर समय रहता हूँ; विकल्पके साथ, परिणामके साथ, खिसकता ही नहीं हूँ । क्या दर्पणका दल क्षणिक आकारमे खिसकता है (आता है) ? – वैसाका वैसा ही रहता है । ऐसे ही, 'मै' भी सदा वैसा का वैसा रहता हूँ । १९९.

*

कहॉ एक समयका भाव...और कहॉ त्रिकाली सामर्थ्य !! त्रिकाली सामर्थ्यके पास एक समयके भावकी क्या शक्ति ? २००.

*

यह बात समझमे आने पर 'करुँ...करुँ'का बोझा तो हल्का हो जाए; परन्तु इस त्रिकाली-अपरिणामीभावका अनुभव होना – यही ख़ास बात है; यह अनुभव करो । २०१.

*

[चर्चा सुननेवालोके प्रति] यहॉ वाले सभीकी लगनी तो अच्छी हो गयी है; लेकिन यहॉकी मुख्य बात कि – 'हमारा लक्ष्य छोड़ो' – यह बात छोड़ी नही जाती । [मानते होगे कि,] तुम ऐसी अच्छी बात बताते हो तो तुमारा लक्ष्य कैसे छोड़ें, तुमारी सन्मुखता कैसे छोड़ें ? लेकिन असलमें तो अपनी सन्मुखता बिना यह बात समझने नही आती । २०२.

*

अरे भाई ! 'तू' एक समयकी पर्यायमे आ नही जाता है । 'तू' तो अनन्ती पर्यायोंका पिण्ड है; यदि 'तू' एक पर्यायमे आगया तो अन्य सभी पर्यायें विधवा हो जायेंगी । २०३.

*

अज्ञानीको अकेले परिणामका ही वेदन होता है; परिणामके साथ ही समूचा अपरिणामी पड़ा है, उसका वेदन नही होता। लेकिन अपरिणामीमें दृष्टि जमाकर, उसमे तादात्म्य होकर, प्रसर कर, अपनापन होते ही उसी क्षणमे 'अपरिणामी' और 'परिणाम' दोनोका एक साथ अनुभव होता है। अकेले परिणामका वेदन तो मिथ्यादृष्टिको ही होता है। ज्ञानीको तो एक साथ दोनोका [द्रव्य और पर्यायका] अनुभव रहता है। [पर्याय स्वरूपाकार हो जाती है, – ऐसी पर्यायके अनुभवको अर्थात् द्रव्यस्वरूपके अभेदभावरूप अनुभवको द्रव्यका अनुभव कहनेमे आता है। वास्तवमे अनुभव, पर्यायकी सीमाका उल्लघन नही करता।] २०४.

*

'मै निष्क्रिय हूँ' – यह चश्मा तो सदा ही लगाए रखना चाहिए। दूसरा चश्मा लगाते समय भी, यह चश्मा तो लगाए ही रखना चाहिए; इसके बिना तो कुछ भी दिखलाई नही देगा। [यहाँ चश्मा शव्दका वाच्य 'दृष्टिकोण' है।] २०५.

*

'मै' ऐसा अपरिणामी (ध्रुव) पदार्थ हूँ कि तीनो लोकोके सभी पदार्थ इकट्ठे होकर भी मुझे हिला-डुला नही सकते। २०६.

*

साधक-बाधक – ये सब तो पर्यायका ज्ञान करनेके लिए है। सबलाईका [अनन्त वीर्यके पिण्डरूपका] चश्मा लगाए बिना, नबलाईका भी (यथार्थ) ज्ञान नही होता है। साधकपना-बाधकपना तो पर्यायकी बात है, 'हमे' तो साधकपने-बाधकपनेकी भी दरकार नही है, क्योकि बाधकपना 'मुझे' [त्रिकालीको] नुकसान नही पहुँचा सकता और साधकपना लाभ नही कर सकता; तो फिर इनका विचार क्यो ? २०७.

*

अपनेमे [चैतन्य गोलेमे] ऐसे लीन हो जाना कि उसके रससे परिणति अन्यत्र जाए ही नही; – उसीको वैराग्य कहते है। २०८.

*

यहाँ अपनी ओर आते ही कर्मकी खड़खड़ाहट ख़त्म हो जाती है, कर्म-धूलि उड़ने लगती है, पर्यायका बॉकापन-टेड़ापन भी छूट जाता है, सुख-शान्ति बढ़ती जाती है। २०९.

*

अपेक्षा-ज्ञान बराबर होना चाहिए, नही तो खतियानेमे फेर हो जाता है। किस अपेक्षासे, किस बातको कितनी मर्यादा तक कहा है, उसका ख़याल होना ज़रूरी है। २१०.

*

निश्चयाभास (होने)का भय छोड़ देना चाहिए; निश्चयाभासी तो तब कहे कि – जब पर्यायमे स्वाभाविक सुख प्रकटा न हो। परन्तु जिसको सुख प्रकट (अनुभव) हुआ है, वह निश्चयाभासी नही है। २११.

*

पर्यायको जहाँ (अन्तरमें) जाना है, वह तो निवृत्ति-प्रवृत्ति दोनोसे रहित है, फिर भी वहाँ (अन्तरमें) जानेवालेको निवृत्तिका ही विकल्प बीचमे आता है, प्रवृत्तिसे खिसकनेका ही भाव आता है – यह नियम है। नियम होनेपर भी उसपर वज़न नही है, ऐसा ही भाव बीचमे आ जाता है। २१२.

*

तुम पन्द्रह सालका सम्बन्ध कहते हो, लेकिन हमारे तो वर्तमान विकल्प जितना ही, एक क्षणका सम्बन्ध है; यह विकल्प छूटा...कि...फिर ख़लास !

चक्रवर्ती (सम्यग्दृष्टि)के छियानवे हजार रानियाँ और वैभव आदि होनेपर भी वर्तमान जिस पदार्थकी ओर लक्ष्य जाता है उसीका वह भोक्ता कहलाता है; परन्तु अभिप्रायमे तो उस पदार्थका भोक्ता, उसी क्षण ख़त्म हो गया। [ज्ञानीपुरुषको सभी प्रकारके सयोगोंसे भिन्नता वर्तती है चाहे सयोग लौकिकदृष्टिसे कितना ही महत्त्वपूर्ण या पुराना हो किन्तु भिन्नतामे एकक्षणमे सब खत्म हो जाता है।] २१३.

*

'आत्मधर्म' जब मिला उसमे "एक ही आवश्यक है" — ऐसा पढ़ते ही चोट लगी। — अरे ! यह आठ द्रव्योसे पूजा करना, छः आवश्यक... इन सबमे तो बोझा लगता है; और इस एक (निश्चय) आवश्यकमे तो बोझा घट जाता है। २१४.

*

[सोनगढ़से दो मील दूर 'एकलिया डैम'के एकान्त स्थलके शान्त वातावरणको देख कर कहा] यह स्थान यह बतला रहा है कि यदि तुमे सुख चाहिए तो तुम अपने साथियोसे भी दूर हो जाओ। २१५.

*

'मै निरावलम्बी पदार्थ हूँ' — ऐसा निर्णय आए बिना, अभिप्रायमे (परका) आलम्बन नही छूटता। २१६.

*

प्रश्न :- श्रद्धाका कार्य श्रद्धा पर ही छोड़ देना ?

उत्तर :- यथार्थ श्रद्धा तो हुई नही, और श्रद्धा अन्यत्र (पर पदार्थोमें) भटकती हुई अपनापन (अहम्पना) करती रहे, और फिर भी कहे कि श्रद्धाका कार्य श्रद्धा पर छोड़ता हूँ; — [असलमे] ऐसा तो हो नही सकता। पहले श्रद्धा अपने त्रिकाली अस्तित्वमे अभेद हो जाए, उसके बाद तो श्रद्धाका कार्य श्रद्धा पर ही है। २१७.

*

झटपट मुक्ति चाहिए !...तो बस, यहाँ [त्रिकालीमे] ही बिराजमान हो जाओ। २१८.

*

[कर्ताबुद्धिके निषेधकी अपेक्षासे कहा] ज्ञान करनेकी ज़रूरत नही; मन्द कषाय करनेकी ज़रूरत नही; निर्विकल्पता करनेकी ज़रूरत नही; केवलज्ञान करनेकी ज़रूरत नही; — सभी सहज होते है, करनेका बोझा ही नही रखना है। अपरिणामी पर आए तो सब सहज ही होता है। 'ज्ञाता-दृष्टा रहूँ' — यह भी नही; इधर (आत्मामें) आया तो ज्ञाता-दृष्टापना

सहज रहता है, 'रहूँ' — ऐसा नही। २१९.

*

[तीर्थकरके जन्मोत्सवमे] इन्द्र नृत्य करके बाहरमे लौकिक अपेक्षासे खुशी मना रहे हो, तो भी उनके अन्दरमे [परिणतिमे] जो सहज सुख चलता है उसमे, वह हर्षभाव भी सहज ही दुःखरूप लगता है। और यह सहज सुख, उस (हर्ष) भावका सहज निषेध करता है। बाहरमें तो इन्द्र भी हर्षभावसे खुशी मनाते हैं। २२०.

*

प्रश्न :— [हमको आत्मामे] स्थिरता क्यो नही होती ?

उत्तर :— क्षणिक [अस्थिर] परिणाममे अपनापन है, स्थिर तत्त्वको पकड़ा नहीं है, तब स्थिरता कहाँसे आए ? 'मै अपरिणामी सदैव स्थिर ही हूँ' — ऐसे त्रिकाली-स्थिर तत्त्वमे अपनापन आते ही परिणाममें स्थिरता सहज आ जाएगी, स्थिरता बढ़ेगी और पूर्णता भी हो जायेगी। पहले 'मै त्रिकाली स्थिर तत्त्व हूँ' — ऐसी दृष्टि होनी चाहिए। २२१.

*

जितना भी देव-शास्त्र-गुरुकी ओर लक्ष्य जाता है उतना नुकसान ही है, [बहिर्मुख उपयोग होनेसे] लाभ नही है; यह बात पक्की हो जानी चाहिए। २२२.

*

प्रश्न :— उपयोगको स्वयंकी ओर ढालनेका ही एक मात्र कार्य करनेका है न ?

उत्तर :— पर्यायकी अपेक्षासे तो ऐसा ही कहा जाएगा। क्योंकि उपयोग दूसरी ओर है तो इधर लाओ — ऐसा कहनेमे आता है। असलमें तो 'मैं खुद ही उपयोग स्वरूप हूँ,' 'उपयोग कही गया ही नही' — ऐसी दृष्टि होनेपर, [पर्यायअपेक्षासे] उपयोग स्वसन्मुख आता ही है। २२३.

*

सुननेके भावमे सुननेवालेको और सुनानेके भावमे सुनानेवालेको

नुकसान है । [– बहिर्मुख उपयोग होनेसे] **दोनोको नुकसानका ही धन्धा है । अपनी-अपनी योग्यतानुसार दोनोको नुकसान है ।** [धर्मवार्त्ता सुनानेवाले और सुननेवालेको भूलसे ऐसा अभिप्राय हो जाता है कि ऐसा कार्य करते-करते लाभ हो जायेगा, परन्तु इस अभिप्रायमे साधनकी भूल गर्भित रहनेसे बहुत बड़ा विपर्यास है । साधकदशामे जो सुनने-सुनानेका राग आता है, वह मात्र चारित्र-दोष है, किन्तु अभिप्रायपूर्वक वैसा राग साधकको नही होता ।] **२२४.**

*

सारी दुनियाको छोड़कर इधर [सुननेको] **आया...तो इधर थपाट लगाकर (झिड़क कर) कहते है कि – अरे भाई ! तू तेरी ओर जा । २२५.**

*

आत्मासम्बन्धी विकल्प हो या परसम्बन्धी विकल्प हो, विकल्प तो विकल्प ही है । [उसमे 'मै' नही ।] **२२६.**

*

प्रश्न :– वस्तु पकड़नेमे नही आती , तो कहाँ अटकाव हो जाता है ? क्या महिमा नही आती है ?

उत्तर :– एक समयके परिणाममे अपनापन रहता है – बस ! यही भूल है । महिमा तो आती है, किन्तु ऊपर-ऊपरसे । यदि वास्तविक महिमा आजाए तब तो छोड़े ही नही । वस्तुका आश्रय (आधार) पकड़ना चाहिए, उसे नही पकड़ता है । २२७.

*

पर्याय मात्रकी गौणता करो । अनुभव हुआ, नही हुआ – यह मत देखो । 'त्रिकाली वस्तु ही मै हूँ' । पर्याय मात्रको गौण कर, इधरका [अन्तर्-स्वरूपका] **प्रयास करो । अभिप्रायमे एक दफ़ा तो सबसे छूट जाना है । २२८.**

*

जैसे भूँगलीको पकड़े हुए शुकको ऐसा लगता है कि 'मै उलटा हूँ, दे सुलटा होता तो फ़ौरन उड़ जाता'; ऐसे अज्ञानीको ऐसा लगता है

कि 'मै विकारी हूँ, इसलिए आत्माको कैसे प्राप्त कर सकूँ ?' अरे भाई ! सुलटे-उलटेकी बात ही नहीं है; परिणामसे छूटा तो ध्रुवपर ही आएगा। [– पर्यायबुद्धि छूटनेपर आत्मामे ही आत्मबुद्धि होगी] । भूँगलीको शुक छोड़ता...तो उड़ ही जाता, क्योंकि उड़ना उसका स्वभाव है । – ऐसे परिणामसे खिसके तो त्रिकालीदलमें ही आएगा । २२९.

*

ध्रुव तत्त्वपर पॉव [दृष्टि] रखो...तो पर्यायमे सब कार्य सहज ही होगा । २३०.

*

आचार्य भगवन्त तो निरन्तर अमृतरसका ही पान करते थे, अमृतरसमे ही मग्न रहते थे । जैसे अच्छा भोजन करते समय अपने कुटुम्बिकजनोकी याद आती है; वैसे आचार्यदेवको करुणा आती है कि भाई ! तुमारे पास भी आनन्दका दरिया पड़ा है, तुम भी उसको पी ओ...पी ओ ! २३१.

*

वस्तु साक्षात् मौजूद पड़ी है, मात्र कल्पना नही करना लेकिन उस रूप हो जाना – तन्मय होकर असंख्य प्रदेशमें व्याप्त हो जाना । जब वस्तु साक्षात् है तो फिर मात्र कल्पना क्यो करना ? – उस रूप परिणम जाना ! [स्वरूपके प्रत्यक्ष अनुभव कालमे 'आत्मप्रत्यक्षता'के अवलम्बनसे उत्पन्न पुरुषार्थका यह प्रकट चितार है ।] २३२.

*

अपने त्रिकाली ध्रुवगुरुको गुरु बनाकर जो शुद्धपर्याय प्रकटी...तो बाहरमें उस वाच्यके बतानेवाले पर गुरुका आरोप किया जाता है । २३३.

*

परिणाममें फेर-फार करना मुझ चैतन्य-खानका स्वभाव नही है । 'पुरुषार्थकी खान ही मै हूँ' तो फिर एक समयके पुरुषार्थमे 'करनेकी' आकुलता क्यो ? २३४.

*

अपनी अनन्त परिणतिको 'नित्य' रहकर भोगते रहो; खण्ड-खण्ड होकर भोगनेमें तो अपना नाश हो जाता है। २३५.

*

'मै निरावलम्बी तत्त्व हूँ' – इसकी तो पूरी मुख्यता होनी चाहिए; और दीनताका [परावलम्बीपनेका] पूरा-पूरा दुःख मालूम होना चाहिए । २३६.

*

यहाँ [त्रिकालीमे] अपनापन आते ही मोक्ष अपने आप हो जाता है। दृष्टि 'यहाँ' अभेद हुई तो इसे मुक्ति समझो ! २३७.

*

अपने स्वक्षेत्रमे बैठ गया तो परिणाम जाएगा कहाँ ? – परिणामका ज़ोर [परोन्मुखी जोर] पंगु हो जाएगा । बहिर्मुखतामें तो परिणाम परके साथ चला जाता है। दृष्टि यहाँ [अन्तरमे] जमी तो परिणाममे ज़्यादा दूर जानेकी शक्ति ही नही रहती। २३८.

*

यथार्थ रुचि हो तो काल लगे ही नही, रात-दिन, खाते-पीते-सोते उसके ही पीछे पड़े। २३९.

*

[विकल्पात्मक] कृत्रिम पुरुषार्थकी तो बात ही क्या ? लेकिन अक्रिय [चिद्‌बिम्बकी] दृष्टिमें तो सहज पुरुषार्थकी भी गौणता है, क्योंकि वह भी क्रिया [एक समयकी पर्याय] है । अक्रिय [स्वरूप]-दृष्टिमे क्रिया मात्रकी गौणता है। २४०.

*

सुननेके कालमे भी 'मै निरावलम्बी तत्त्व हूँ' – यहाँसे शुरू करना चाहिए, फिर सुननेका भाव आएगा किन्तु उसकी मुख्यता नही होगी । २४१.

*

परिणामको हटा नही सकते, परिणाममेंसे एकत्व हटा सकते

है । २४२.

*

उपयोग अपनेसे बाहर निकले...तो यमका दूत ही आया – ऐसा देखो ! बाहरमे फिर चाहे भगवान ही हों ! [उपयोग बाहर जावे] उसमे अपना मरण हो रहा है । बाहरके पदार्थसे तो अपना सम्बन्ध ही नही, तो फिर उपयोगको बाहरमें लम्बाना क्यों ? २४३

*

'कुछ करना नही है' हर समय ऐसा भाव रहना [– कर्ताबुद्धि छूट जाना] इससे अधिक मुक्ति कौनसी है ? २४४.

*

दूसरेसे अपनी प्रसिद्धि होवे, इसमे तो अपनेको पराधीनता आई; ख़ुद तो लँगड़ा ही रहा । २४५.

*

बाहरके सत्‌से – देव-शास्त्र-गुरुसे – तुझे लाभ होनेवाला नही है; तेरे सत्‌से ही तुझे लाभ है । बाहरके सत्‌से लाभ होवे तो क्या तू स्वयं सत् नही है ! २४६.

*

वस्तु और वस्तुमे एकाग्रता-तणाव (खिंचाव) – बस, ये ही दो बाते है । एकाग्रता होते-होते मुक्ति हो जाती है । [इसके अलावा] सुनना, तत्त्वचर्चा करना, ये सब विषय-सेवन हैं [क्योकि बहिर्मुखीभाव है]; अपने विषयको छोड़कर, इन्हे विषय बनाते हैं तो अपना विषय पड़ा रह जाता है । २४७.

*

सिर्फ़ बैठक ही बदलना है । परिणामपर बैठे हो तो वहाँसे उठकर अपरिणामीपर बैठ जाओ...बस, इतनी-सी बात है । २४८.

*

कचास (कमी) तो तब कही जावे कि – जब अकचासस्वभावकी दृष्टि हुयी हो; नहीं तो कचास कहाँ है ? – एकान्त परसन्मुखता

है। २४९.

※

[आत्मप्राप्ति कैसे होवे ? – इस विषयमे जिज्ञासापूर्वक पूछे गये प्रश्नका विस्तृत उत्तर –]

रुचिमे खरेखर अपनी ज़रूरत लगे तब अपनी वस्तुकी प्राप्ति हुए बिना नही रहती। चौबीसो घण्टो चितनमे-बेचितनमे एक यही [स्वरूपका घोलन] **चलता रहे। जिस विषयकी रुचि होती है, वह विषय सैकड़ो बाह्य कार्य करते हुए भी चलता ही रहता है। बाहरका उपयोग तो ऊपरी-ऊपरी तौरसे चलता है, उसमे जाग्रति नही रहती; जिस विषयकी रुचि है उसीमे जाग्रति रहती है। सैकड़ो कार्य करते रहनेपर भी सभीकी गौणता ही रहा करती है; मात्र रुचिका विषय ही सदा मुख्य रहता है।**

विकल्पात्मक विचारमे भी 'शरीराकार चैतन्यमूर्ति' को टॉक दो...'मै तो यही हूँ'। सुख-दुःखकी जो कोई पर्याय हो, उसकी उपेक्षा रखो। 'मै तो यही हूँ' – विचार चले, उसकी भी गौणता रखो। 'मै तो वैसा का वैसा ही चैतन्यमूर्ति हूँ' – बस ! यही दृढता करते रहो।

सुनना, शास्त्र पढ़ना आदि सभीकी गौणता होनी चाहिए; एकान्तका ज़्यादा अभ्यास रहना चाहिए [ताकि स्वरूपघोलन बढ़े] **।**

यह [सम्यक्त्व] **प्राप्त नही हुआ तो जीव निगोदमे चला जाएगा – ऐसे निगोदके भयसे, अपना कार्य करना चाहे तो वो यथार्थ नही। परन्तु** [अभिप्रायमे] **निगोदकी अवस्था हो या सिद्धकी, 'मेरा' तो कुछ भी बिगाड़-सुधार नही** ['मै' अवस्थारूप नही,] **– ऐसी 'मै अचलित वस्तु हूँ' – ऐसी श्रद्धा जम जानी चाहिए। पर्याय कैसी भी हो उसकी उपेक्षा ही रहनी चाहिए।**

'परद्रव्यके साथमे तो कुछ सम्बन्ध ही नही' ऐसा तो पक्ष होना चाहिए; बादमे वस्तु [त्रिकाली ध्रुव] **और परिणाम** [उत्पाद-व्यय] **इन दो के विचारमे ही सब समय लगा देना है।**

चौबीसो घण्टो...बस यही [स्वरूपका घूँटण] **चलना चाहिए।**

प्रवृत्तिभावको गौण करके इस एक ही की मुख्यता चलनी चाहिए । – यही प्रयास निरन्तर चलना चाहिए । २५०.

*

आत्मा, ज्ञान और सुखसे भरा हुआ है फिर अपनेको चाहिए भी क्या ? लोग जन्म-मरणसे छूटना चाहते है, लेकिन 'मै' तो जन्म-मरणसे रहित ध्रुव हूँ; उत्पाद-व्ययके साथ भी 'मै' खिसकता नही । २५१.

*

इधरसे [अन्तरमेसे] जो ज्ञान खिलता है, वो सारे नाटकको [तटस्थ होकर] देखता है – कैसे-कैसे भाव उठते है ? कैसे ठगाते है ? कैसे खिँचाव [परद्रव्य-प्रति] होता है ? – ये सब नाटक, ज्ञान देखते रहता है । २५२.

*

इतना-इतना ख़ुलासा यहाँसे [पूज्य गुरुदेवश्रीसे] बाहर आ चुका है कि पञ्चम आराके अन्त तक चलेगा । २५३.

*

(मात्र) विचार करनेसे वस्तुका पता नही लगता [आत्माका अनुभव नही होता] । वस्तु तो प्रत्यक्ष मौजूद है, बस ! इसीमे प्रसरकर बैठ जाना, बिराजमान हो जाना । २५४.

*

'मै' ही पुरुषार्थकी खान हूँ न ! दृष्टिने पुरुषार्थकी खानका क़ब्ज़ा ले लिया, फिर पर्यायमे पुरुषार्थ, सुख आदि सहज होता ही है । २५५.

*

प्रश्न :– परिणाममेंसे एकत्व छोड़ देना, यही आपका कहना है ?

उत्तर :– बस...यही कहना है । परिणाममेसे एकत्व छोड़ दो ! लेकिन यह एकत्व छूटे कैसे ? – नित्य स्वभावमे एकत्व करे तब । निश्चय नित्य स्वभावमे दृष्टि जमाकर, परिणाम मात्रसे एकत्व उठा लेना । २५६.

*

प्रश्न : — वृत्ति उठती रहती है, वह कैसे रुक जाए ?

उत्तर : — एक समयकी वृत्तिको उसीमें रहने दो। 'मै' त्रिकाली तो एक समयकी वृत्ति मे जाता ही नही। त्रिकालीमे अपनापन होते ही वृत्ति भी खिंचीज जायेगी [खीची चली आएगी] **। २५७.**

*

सबसे प्रथम अभिप्रायमे निरावलम्बीपना आ जाना चाहिए। बीचमे [बादमे] **ज़रा-सा** [परका] **अवलम्बन आ जाए, लेकिन उसी समय अभिप्रायमे निषेध** [वर्तता] **है। २५८.**

*

[ज्ञानीके] **ज्ञानकी रागके प्रति पीठ होती है, मुख नही होता। इधर** [अन्तरमे] **मुख होनेसे राग स्वयं छूट जाएगा। रागको कम करुँ, छोड़ूँ — ऐसा तूफ़ान नही होता। रागको कम नही करना है और लम्बाना भी नही है। 'स्वभावका बल बढ़ते-बढ़ते राग कम होता जाता है।' ज्ञानका परिणमन अर्थात् स्थिरता — बस ! यही एक रागके नाशका उपाय है। रागको कम करुँ,** [ऐसा कर्तृत्व भाव] **यह कोई उपाय नही है। २५९.**

*

मै तो यह सब स्वप्न देख रहा हूँ — शरीर, शरीरमे; और मै, मेरेमे हूँ; स्वप्नकी माफ़िक यह सब हो रहा है। २६०.

*

प्रश्न :— सीताजी साधर्मी थी और पत्नी भी थी, तो भी रामचन्द्रजीने लौकिकजनोकी मुख्यता करके वात्सल्य अनुरागको भी गौण कर दिया, ऐसा कैसे ?

उत्तर :— देखो ! इससे यही सिद्ध हुआ कि — 'धर्मीको वात्सल्य राग ही मुख्य होता है, ऐसा नही है।' कभी कैसा राग आजाए ! और कभी क्या (दूसरा) राग आजाए ! [धर्मात्माको सदैव वात्सल्य होता है। दूसरे प्रसगकी मुख्यताके समय भी वात्सल्यके अभिप्रायमे कोई

फर्क नही पड़ता । अत श्री रामचन्द्रजीके वात्सल्यके बारेमे सीताजी नि शक थी । वैसी नि शकता धर्मीके प्रति रहनी चाहिए ।] २६१.

※

वात्सल्य, प्रभावना आदिके रागको [सभी तरहके रागको] **हम तो रोग मानते है, फिर उसको बढ़ाना क्या ? २६२.**

※

द्रव्यलिगीको वस्तुका [साधारण] **माहात्म्य तो आया, लेकिन वस्तु परोक्ष ही रही, प्रत्यक्ष नही हुई ।** [परोक्ष ज्ञानमे वस्तु-स्वरूप यथार्थ जाननेपर भी अनन्त प्रत्यक्ष वस्तुकी प्रत्यक्षताका जोर आये बिना प्रत्यक्ष अनुभव नही आता ।] २६३.

※

आचार्यने दृष्टिके दोषको इतना बड़ा बताया है कि, भाई ! सर्पका कटा तो एक ही दफ़ा मरता है, लेकिन मिथ्यात्वका कटा हुआ अनन्त भवमे रुलता है; – इसलिए इस मिथ्यात्वके महान् पापसे बचनेके लिए, शादी तक कर लेने का कह दिया, क्योकि वह तो मात्र रागका [चारित्रदोषका] **ही कारण है । २६४.**

※

पर्याय [त्रिकाली] **द्रव्यसे सर्वथा ही भिन्न है; प्रमाणमे अभिन्नता भी कहनेमे आती है, लेकिन प्रमाण निश्चयनयको झूठा करके नही कहता है; निश्चयसे तो पर्याय सर्वथा भिन्न है । प्रदेश एक होनेसे प्रमाण उनको अभिन्न कहता है; प्रमाण अभिन्न ही कहता है – ऐसा नही है; भिन्न-अभिन्न दोनो कहता है । परन्तु 'एकान्त भिन्न है' – ऐसा ज़ोर दिए बिना, पर्यायमेसे दृष्टि उठेगी नही । ''अनेकांत पण सम्यक् एकान्त एवा निज पदनी प्राप्ति सिवाय अन्य हेतुओ उपकारी नथी'' – यही सत्य है । २६५.**

※

'मै' इतना मज़बूत स्थल हूँ कि एक समयकी पर्यायमे अनन्त सुख हो, ज्ञान हो या अनन्ती विपरीत पर्याये हो, 'मेरे'मे उन पर्यायोसे कुछ

भी हलचल नही होती, सुधार-बिगाड़ नही होता — ऐसी दृढ-मज़बूत चीज़ 'मै' हूॅं। [– ऐसी दृष्टिवालेका परिणाम सुधर जाता है, फिर भी इसकी अपेक्षा नही होती ।] **२६६.**

※

प्रश्न :— परिणाम कैसे सुधरे ?

उत्तर :— नित्य अपरिणामी ध्रुवधाममे दृष्टि विराजमान करनेसे परिणाम सुधरने लगेगे। २६७.

※

आख़िर तो सदा एकान्त [अकेला] **ही रहना है, तो शुरूसे ही** [एकान्तका] **दो-चार-पॉच घण्टोका अभ्यास चाहिए। २६८.**

※

जैसे मृत्युका बाझा तावसे छूटता है, ऐसे 'परिणाम मेरेसे सर्वथा भिन्न है' [–ऐसा जोर देने पर ही] **दृष्टि परिणामसे छूटती है। २६९.**

※

[बाह्य व्यवहारमे] **किसी भी कार्यकी जवाबदारी लेना सो तो** [हमारे लिए] **बड़ा पहाड़ उठाना है।** [बहुत बोझा लगता है ।] **२७०.** [अगत]

※

यह जो महाराजसाहबका योग मिला है — वह परम योग है, क्योकि परम स्वभावकी प्राप्तिका कारण है। महाराजसाहब जगत्गुरु है, जो अकेले सिद्ध लोकमे नही जाते, बहुतसे जीवोको साथ लेकर जाते है। यहॉके अधिकांश लोग साथमे चलनेवाले है। २७१.

※

यह सब [तत्त्वकी] **बात विकल्पात्मकरूपसे जान लेनेसे शान्ति नही मान लेना, अभेद-दृष्टि प्रकट करना। २७२.**

※

असलमे आत्मा कैसे प्राप्त होवे — यही एक ध्येय होना चाहिए;

दूसरी-दूसरी वातोसे क्या प्रयोजन ? २७३.

⁘

इधर [स्वरूपमे] दृष्टि आते ही सुखके स्रोतके स्रोत वहने लगेगे । २७४.

⁘

जिस रसकी रुचि होती है, उस रसकी जिस निमित्तसे कृत-कारित-अनुमोदनारूप पुष्टि मिलती है, उसीके संगका भाव होता है । देव-शास्त्र-गुरु शांतरसके निमित्त है, इसलिए [शातरसकी रुचिवालेको] उनके संगका भाव आता है । २७५.

⁘

निश्चयाभासके निषेधके लिए जब ऐसा कहनेमे आता है कि सुननेका भाव तो गणधरको भी आता है; अध्ययनका भाव तो मुनियोको भी आता है; – इत्यादि कथन आते है, तो अज्ञानीको व्यवहार-पक्षकी पुष्टि हो जाती है और निश्चयाभास हो जानेका डर (भय) लगता है, इससे निश्चयपर ज़ोर नही दे सकता और व्यवहारमे तणीज (खिंच) जाता है – रागमे आदरभाव रह जाता है । २७६.

⁘

'मै' ऐसा पदार्थ हूँ कि मेरेमे भयका प्रवेश ही नही हो सकता है (तो) फिर भय किस विषयका ? २७७.

⁘

[सम्यग्दृष्टि] चक्रवर्तीको लोग (यो) देखे कि यह छ खण्डवाला है । (परन्तु) उसकी दृष्टि तो अखण्ड पर है । २७८.

⁘

[अभिप्रायकी] ज़रा-सी भूल, वह भी पूरी भूल है । 'पर्याय' ध्यान करनेवाली है, और 'मै' तो ध्यानकी विषयभूत वस्तु हूँ; पर्याय 'मेरा' ध्यान करती है, 'मै' ध्यान करनेवाला नही हूँ । 'मै' ध्यान करूँ, इस बातमे; और 'मै' ध्यान करनेवाला नही, 'मै तो ध्यानका विषय हूँ' –

इस बातमे ज़रा-सा फेर लगता है; परन्तु है रात-दिन जितना बड़ा फेर। [एकमे पर्यायदृष्टि रहती है जबकि दूसरेमे द्रव्यदृष्टि होती है, इतना बड़ा फेर है।] २७९.

÷

प्रश्न :— [ध्यान करते समय] सोऽहं...सोऽहं...शिवोऽहं...आदि शब्द क्यो बोलनेमे आते है ?

उत्तर :— यह तो सीधा ध्यान जम न सके तब इन शब्दोके द्वारा कषाय थोड़ा और पतला पड़ता है, [चञ्चलता घटती है,] इसलिए है। [जिनका अन्तर्पुरुषार्थ बलवान हो उनको भी ऐसा बोलना ही पड़ता हो, ऐसा नही है।] २८०.

÷

"शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम" — इसमे पर्याप्त बात बतला दी है। फिर जो बात आती है, वह तो 'परलक्ष्यीज्ञानकी निर्मलता' के लिए सहज हो तो हो ! २८१.

÷

दृष्टिकी तुलनामे चारित्रका पुरुषार्थ अनन्तगुना है, लेकिन उसकी भी मुख्यता नही [क्योकि वह भी पर्याय है]; दृष्टिके विषयकी मुख्यतामे उसकी भी गौणता रहती है। २८२.

÷

बाहरसे अपना कोई प्रयोजन ही नही, तो बाह्य पदार्थोसे तो सहज ही उदासीनपना रहे ही। २८३.

÷

दृष्टि अपनेको प्रभु ही देखती है। कमज़ोरीसे विकल्प आया तो अपनी निंदा-गर्हा भी होती है; 'मै पामर हूँ' ऐसा भी विकल्प आता है, परन्तु यह तो क्षण पूरता ही विकल्प है; आ गया तो आ गया। [किसी ज्ञानीको तो दृष्टि-बल प्रबल होनसे निन्दा-गर्हादिका विकल्प कम भी आता है।] २८४.

÷

जैसे जिसको सूई (Injection) लेनेकी आदत हो गई हो उसको सूई लिए बिना चैन नही पड़ता, वैसे ही जिसको सुनने आदिकी आदत [ध्येयशून्यवृत्ति] हो गई हो उसको उसके बिना चैन नही पड़ता। लेकिन [सुनने आदिके भावका] तीव्र निषेध आए बिना उनसे छूट ही नही सकते। [स्वरूपदृष्टिके बलसे सभी प्रकारके शुभभाव, परलक्ष्यीभावका निषेध आए विना वे शुभभाव नही छूटते।] २८५.

*

प्रश्न :– सम्यग्दर्शनका विषयभूत आत्मा कैसा है ?

उत्तर :– सम्यग्दर्शनका विषयभूत आत्मा – ध्रुव, अभेद, एकरूप, शुद्ध, अखण्ड, कूटस्थ, अपरिणामी है। २८६.

*

दृष्टिमे तो 'अपन' प्रभु है ! बाहरमे अन्यको 'प्रभुता'मे आगे (विशेष) बढ़ा देखे तो सहज ही प्रमोद-भाव आ जाता है, लेकिन ऐसा भाव भी क्षण पूरता ही आता है, ज़्यादा लगाव नही होता। २८७.

*

इधर [आत्मस्वरूपमे] नही आया तो पर्यायका विवेक भी नही होता। तो कहना पड़े कि भाई ! पर्यायका विवेक रखो ! इधर [स्वरूपमे] आया तो पर्यायका विवेक तो सहज ही होता है। २८८.

*

एक समयकी पर्यायको छोड़कर जो सामान्य वस्तु रह जाती है, वही दृष्टिका विषय है। २८९.

*

अनादि कालसे भटकते-भटकते जब अपरिणामीमे [स्वस्वभावमे] अपनापन हुआ कि 'मै तो सदा मुक्त ही हूँ'....बस ! यही जीवनकी धन्य पल है। २९०.

*

वीतरागीके साथ राग करनेका प्रयत्न मूर्खता है; वे तो तेरेको जवाब

तक भी नही देगे। २९१.

✣

अपने सहज सुखकी पिपासा होनी चाहिए; जितनी तीव्र पिपासा...उतना जल्दी काम होता है। २९२.

✣

देव-गुरुसे कुछ लेना नही है। उनके स्वरूपको देखकर 'मै भी इन्हीकी जातिका हूँ' – ऐसा जाननेमे आता है; लेना-देना कुछ नही है। दूसरेके साथ लेन-देनका सम्बन्ध ही नही है। अशुद्धपर्यायका दूसरेकी ओर लक्ष्य जाता है। [इतना ही है] **किन्तु दूसरेसे लेन-देनका सम्बन्ध नही है। २९३.**

✣

जो पर्याय जिस कालमे होनेवाली है, तभी होती है। मुनिदशा भी सहज होती है। पहले भावना होती है; लेकिन अभिप्रायकी पहले प्रधानता करो; पीछे योग्यता प्रधानी हो जाओगे। जो पर्याय जब होनेवाली है तब ही होती है। 'अपन' तो जहाँ वैठे है, वहाँ कुछ करना-कराना नही है। 'अपन तो बन्ध और मुक्ति दोनोसे रहित है।' [सम्यग्दृष्टि जीवको मुनिपदसे लेकर पूर्ण शुद्धदशाकी भावना आती है फिर भी उसे अपने अक्रिय चिद्बिम्बका ही अभिप्राय मुख्य रहता है। अतएव मुमुक्षु जीवको भी दृष्टिके विषयभूत स्वरूपकी मुख्यतामे रहकर ही अध्यात्मदशाकी भावना होनी चाहिए, वरना पर्यायदृष्टि छूटी नही होनेसे उसे भावनाकी तीव्रतामे भी पर्याय-प्रधानता वृद्धिगत हो जाएगी।] **२९४.**

✣

दृष्टिके विषयकी हर समय मुख्यता रहनी चाहिए। [दूसरी] **चाहे जितनी बात आओ, लेकिन उसकी** [दृष्टिके विषयकी] **गौणता नही होनी चाहिए। २९५.**

✣

पूरे 'समयसारजी'मे छट्ठी गाथामे सम्यग्दर्शनका ख़ास विषय आगया

है । छट्ठी गाथामे सबसे उत्कृष्ट बात आगयी है । 'मै प्रमत्त भी नही, अप्रमत्त भी नही,' कौनसी पर्याय बाकी रही ? २९६.

*

देव-शास्त्र-गुरुकी तरफ़के लक्ष्य और वलणमे भी भट्ठी-सा दुःख लगना चाहिए । [ज्ञानीका] बाहरमे उत्साह दिखता है, लेकिन अन्दरमे भट्ठी-सा दुःख लगता है । २९७.

*

विकल्पात्मकभावमें यह निर्णय आया कि 'कुछ करना ही नही है' तो इतना मात्र विकल्पात्मक कर्तृत्व छुटनेपर आकुलता उतनी कम हो जाती है; फिर विकल्प रहित (निर्विकल्प) निर्णय होनेपर सर्वथा कर्तृत्व छूटकर वास्तविक शान्ति होती है । २९८.

*

सुनने आदिके भाव ज्ञानीको, गणधरको भी आते है तो अपनेको क्यो न आए ? [– ऐसी बातोके अवलम्बनसे अज्ञानी जीव] ऐसे-ऐसे पराश्रितभावकी पुष्टि करता है । २९९.

*

मृत्युके समय जीवको अपनी रुचिका विषय ही मुख्य हो जाता है; अन्य सभी चीज़ोसे रुचि हट करके, जिसकी रुचि थी उसी एक चीज़की मुख्यता हो आती है । – ऐसे, जिसको आत्माकी रुचि है, उसको मृत्युके समय अपना आत्मा ही मुख्य हो जाता है; उस समय तो सब कुछ समेट लेना है । [– इस बात पर किसी जिज्ञासुने श्रीमद् राजचन्द्रजीके देहान्तसमय कहे हुए वे शब्द कि "मै स्वरूपमे लीन होता हूँ" दोहराए, जिसे सुनकर सोगानीजीने कहा कि 'ऐसा ही होता है' ।] दूसरेसे कहे कि 'मुझे सुनाओ' तो उसकी योग्यता भी उसी प्रकारकी है, तभी ऐसा विकल्प आता है । ३००.

*

एक [मूल] बात यथार्थ पकड़मे आनेपर सब बाते यथार्थरूपमे

ग्रहण होती है । ३०१.

✻

अपने तो अपना समझना । दूसरा कैसा समझता है, कैसा नही, इसका क्या प्रयोजन ? दूसरेमे रुकेगा तो अपना काल व्यर्थ चला जाएगा । ३०२.

✻

[जो] **क्षयोपशममे बैठे हुए, द्रव्य** [आत्मा] **ऐसा है...ऐसा है – ऐसे द्रव्यकी बाते कर रहा है, वह तो दूर बैठकर द्रव्यकी बात कर रहा है ।** [आत्मामे बैठकर द्रव्यका स्वरूप वताना यथार्थ है ।] **३०३.**

✻

जब अन्तर्दृष्टि जमे तब ही [वर्तमान पर्यायकी] **योग्यताका ज्ञान यथार्थ होता है; तभी** [जिस कालकी जैसी] **'योग्यता' कहनेका अधिकार है । ३०४.**

✻

[निर्विकल्प दशामे] **बिजलीके करंटकी माफ़िक अतीन्द्रिय सुख प्रदेश-प्रदेशमे व्यापक होकर प्रसर जाता है ।...झनझनाहट....! काल थोड़ा होनेपर भी क्या ?** [काल थोडा होनेसे उसकी महत्ता कम नही । निर्विकल्प आत्माके अतीन्द्रिय आनन्दकी अनुभवदशाका माहात्म्य अचित्य-महिमावन्त है क योकि एक क्षणार्धमे अनन्तभवका नाश हो जाता है ।] **३०५.**

✻

आत्मा तो गम्भीर है; समुद्रकी माफ़िक अनन्त शक्तियॉ अपनेमे संग्रह करके बैठा है; इसकी दृष्टि होते ही ज्ञानमे भी गम्भीरता और विवेक आता ही है । ३०६.

✻

बाहरके संगका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी पर्यायके साथ है, 'मेरे' साथ नही । लेकिन जिसको पर्यायमे ही एकत्त्वबुद्धि है, उसकी बुद्धि तो निमित्तके साथ लम्बाती है; किन्तु ज्ञानीको पर्यायमे एकत्वबुद्धि नही है,

तो उसकी निमित्तके साथ भी एकत्वबुद्धि नही होती है । ३०७.

*

संसारमे हर विषयमें प्रयास करते हो तो इधरका [अन्तरमे स्वरूपका] प्रयास भी करो न ! इस प्रयासमे तो उत्कृष्ट शुभभाव होता है, जो अन्य किसी जगह नही होता । यह भी है तो कृत्रिम प्रयास, लेकिन अकृत्रिम प्रयासके पहले यह भी आए बिना नही रहता । ३०८.

*

नित्य पड़खा और अनित्य पड़खा — ये दोनो पड़खे एक वस्तुके है; अब मतलब प्रोयजन-सिद्ध करनेका है तो वह तो नित्य पड़खेको मुख्य करनेसे और अनित्य पड़खेको गौण करनेसे ही सिद्ध होता है । ३०९.

*

[विकारी] पर्याय परकी ओर तन्मयता करती है लेकिन परके साथ तन्मय हो सकती नही; अन्तर्मुहूर्तसे अधिक परकी ओर टिक नहीं सकती । [जब कि, शुद्ध] परिणाम त्रिकालीके साथ तन्मयता करे तो (वह) वहाँ तो तन्मय हो जाता है; [साथ ही] वह तन्मयता [स्व-सन्मुखता] सदाकाल टिकती है । ३१०.

*

जितनी धगश उग्र...उतनी जल्दी कार्य होता है । ३११.

*

प्रश्न :— मुनिको वस्त्रादि नही होनेसे दुःख नही होता होगा ?

उत्तर :— मुनिराजोको दुःख कैसा ?! उनके तो अन्तरमें आनन्दका स्रोत बहता है; बिजलीके करंटकी माफ़िक आनन्द चलता है; उनको तो वस्त्रकी वृत्तिका उठना ही दुःख है, और जो शुभवृत्ति उठती है वह भी भयंकर दुःखरूप लगती है । [मुनिदशामे छट्ठे गुणस्थानमे अतर्आत्मपरिणति बहुत उग्र होती है जिससे वे सहज ही अतर्मुहूर्तमे निर्विकल्प सप्तम गुणस्थानमे आ जाते है ।] ३१२.

*

'मै' तो विकल्पसे शून्य हूँ और मेरे भावोसे 'मैं' भरपूर हूँ। ३१३.

*

अध्ययन आदिका काफ़ी रहस्य पू. गुरुदेवश्रीसे अपनेको मिल गया है। 'क्रमबद्ध' कहॉ लिखा है, अपनेको क्या दरकार है ? सिद्धान्त बैठ गया और अनुभवमे आगया, फिर क्या काम ? – ऐसे महाराजसाहबसे सब बाते अपनेको तैयार मिल गयी है, जैसे कि पिताकी कमाई हुयी पूँजी वारिसेमे (विरासतमे) बिना प्रयत्नके मिल जाए। ३१४.

*

प्रश्न :– ज्ञानीको विषयोमे आसक्ति नही है – इसका मतलब क्या ?

उत्तर :– अन्य मतवाले तो इसको दूसरी तरहसे कहते है, लेकिन वैसा नही है। यथार्थमे तो ज्ञानीको अपने त्रिकाली स्वभावमे ऐसी आसक्ति होगयी है कि अन्य किसी पदार्थमे आसक्ति होती ही नही; (वे) स्वभावमे इतने आसक्त है। ३१५.

*

प्रश्न :– पहले तो (बाह्य) आलम्बन लेना चाहिए न ?

उत्तर :– पहलेसे ही 'मै परिपूर्ण हूँ' उसको आलम्बन कैसा ? – ऐसा लेकर, [बाह्य] आलम्बनसे नुकसान ही है, ऐसे निषेध पूर्वक थोड़ा आलम्बन आजाता है; लेकिन अभिप्रायमे आलम्बन नही होना चाहिए – (बाह्य) आलम्बनमे पहलेसे ही निषेध-भाव होना चाहिए। ३१६.

*

मृत्युके समय (कोई) 'मुझे सुनाओ' ऐसा भाव जब उठता है, तब तो स्वयंकी तैयारी नही है। (जिसे) अन्दरमे [स्वरूपका घोलन] चल रहा है उसको कोई दूसरा सुनाए – ऐसा विकल्प ही नही उठता, उसको तो उस समय अधिक बल होवे तो निर्विकल्पता आ जाती है; अगर निर्विकल्पता नही आती है तो भी स्वकी अधिकता तो छूटती ही नही। ३१७.

※

'स्वद्रव्यमें जम जाना' यह एक ही कर्तव्य है, वह भी परिणामकी अपेक्षासे। 'मेरी' अपेक्षासे तो 'मै' कृतकृत्य ही हूँ, कुछ भी कर्तव्य नही; 'मै' तो अनन्त वीर्यकी खान हूँ। [उसमे – मेरे ऐसे स्वरूपमे – 'कुछ भी करना' – यह भ्रॉति है।] **३१८.**

※

दूसरे सब पदार्थोको तो छोड़ा और देव-गुरुको चौटा (चिपक गया); अब वहॉसे भी उखड़कर इधर [स्वरूपमे] **चौटो ! ३१९.**

※

'मै तो चैतन्य प्रतिमा हूँ।' यह प्रतिमा कुछ नही देती, इससे उपकार [धर्मलाभ] **नही हो सकता,** [उपचारसे] **कहनेमे आता है। असलमे तो उसका स्वरूप – अहो ! वीतरागी शान्त मुद्रा देखकर...बस, 'मै भी ऐसा ही हूँ'** [– ऐसा आत्मस्वरूप दिखता है।] **३२०.**

※

जैसे वीर रसवालेको [लडाई आदिके प्रसगमे] **शरीर छूट जानेका डर नही। वैसे ही शान्त रसवालेको पूरा जगत् प्रतिकूल हो जाए, शरीर छूट जाए या ऐसा ही कोई प्रसंग आ जाए तो भी वह डिगता नही। ३२१.**

※

[कृतकृत्य स्वभावके अनुभवमे पर्याय मात्रकी कर्तृत्वबुद्धि मिट जाती है, इस सदर्भमे कहा] **'मुझे' तो शुद्धपर्याय भी करनी नही है, न पुरुषार्थ करना है, न ज्ञान करना है और न ही श्रद्धान करना है – यह सब तो परिणामका कार्य है और 'मै तो अपरिणामी हूँ', परिणाममे कभी जाता ही नही; तो 'मै' उसका** [परिणामका] **क्या करुँ ? – परिणाम ही स्वयं पुरुषार्थ आदि रूप होता है। ३२२.**

※

सुननेवालेको (तो) दीनता है ही, लेकिन दूसरोको सुनाना चाहते हो तो वह [भावमे] **भी दीनता है। ३२३.**

※

प्रश्न :— प्रयास तो करना चाहिए न ?

उत्तर :— अरे भाई ! कृत्रिम प्रयाससे क या होगा ? — उसपर वज़न नही आना चाहिए । 'मै वर्तमानमें ही निष्क्रिय चैतन्य हूँ' वहाँ [स्वरूपमे] आया तो पर्यायमे प्रयास सहज उठता ही है । 'मै' तो अनन्त पुरुषार्थकी खान हूँ न ! एक समयके प्रयासमे थोड़े-ही आ जाता हूँ ? ३२४.

*

'मै वर्तमानमे ही परिपूर्ण हूँ' फिर [स्वरूपमे तो] मुक्तिका प्रयास करनेका भी सवाल नही उठता । करना क्या है ? — परिपूर्णमे मुक्ति क्या करना ! ३२५.

*

प्रश्न :— रागको ज्ञानका ज्ञेय तो बनाना है न ?

उत्तर :— रागको ज्ञानका ज्ञेय बनानेको जाते है, यह दृष्टि ही ग़लत है । ख़ुदको ज्ञेय बनाया, तो राग उसमे [जुदा] जणीजता [जाननेमे आता] ही है; रागको ज्ञेय क्या बनाना ? ३२६.

*

प्रश्न :— स्व-परकी प्रतीति करनेका तो शास्त्रमे आता है न ?

उत्तर :— अरे ! स्वकी प्रतीति करो । परकी प्रतीति [परमे नही, किन्तु] उसमे आ जाएगी । अपनी ख़ुदकी प्रतीति करो । ३२७.

*

त्रिकालीका पक्ष करो ! ऐसा [अपूर्व] पक्ष करो कि अनन्तकालमे कभी हुआ न हो । वर्तमानका पक्ष छोड़ो ! ३२८.

*

प्रश्न :— अनुभवमे आवे तो इधर [स्वरूपमे] बैठा कहा जाए न ?

उत्तर :— अनुभवकी [पर्यायकी] दरकार छोड़ दो । स्वाद लेना [पर्याय करना] यह कोई ध्येय थोड़े-ही है ? ध्येयका [त्रिकाली स्वभावका] पक्ष करना चाहिए । ३२९

❋

प्रश्न :– पक्ष इधर [स्वरूपमे] **आये बिना कैसे करे ?**

उत्तर :– अरे भाई ! विकल्पात्मकभावमे [निर्णयमे] **तो यह पक्ष करो; पीछे इधर** [स्वरूपमे] **जम जाओ । ३३०.**

❋

[स्वरूपकी] **ऐसी रुचि होनी चाहिए कि उसके बिना एक क्षण भी चैन न पड़े । ३३१.**

❋

प्रश्न :– राग ज्ञेय है, कि दुःखरूप है ?

उत्तर :– इधर [स्वभावमे] **आया तो राग ज्ञानमे ज्ञेयरूप जाननेमे आता है, और वेदनमे दुःखरूप लगता है ।** [एक ही समयमे ज्ञानके 'जाननेरूप' व 'वेदनेरूप' दो प्रकारके धर्म प्रगट है । 'जाननेरूप धर्म' रागको मात्र ज्ञेयरूप जानकर ज्ञाताभावसे वर्तता है । 'वेदनेरूप धर्म' वेदन करता है, तब ज्ञाताभाव होनेपर भी रागकी आकुलताका वेदन दु खरूप लगता है । इस प्रकार ज्ञानके दोनो धर्म एक साथ वर्तते है, यही अनेकान्त है ।] **३३२.**

❋

राग भी उसी समय पूरता सत् है, उसको खिसकाने जाएगा...तो तू ख़ुद ही खिसक जाएगा; उसको उसीमे रहने दो...तुम तुमारेमे रहो, वह (राग) स्वयं ही चला जाएगा । ३३३.

❋

मै तो महाराजसाहबको शुद्ध-निष्क्रिय-चैतन्यबिम्ब ही देखता हूँ । जो भी विकल्प-वाणी-शरीरकी क्रियायें हो रही है उनको महाराजसाहब नही मानता । ३३४.

❋

मोक्ष होवे न होवे – उसकी दरकार नही; [अतीन्द्रिय] **सुख चालू हो गया फिर पर्यायमे मोक्ष (तो) होगा ही । ३३५.**

❋

सभी शास्त्रोका-बारह अंगका सार तो 'मै' हूँ; शेष सब बाते तो

जाननेकी है। 'अपने' को दृष्टिमे ले लेने पर जो ज्ञान उघड़ता है वह सब जान लेता है। ३३६.

※

विकल्पमे तीव्र दुःख लगे और विकल्पमे तणीजता (खीचाता) नही, उसे मचक कहते है; [क्योकि साधक, स्वरूपमे निरन्तर स्थिर नही रह सकता।] **जिसे मचकमे** [– रागमे] **दुःख ही न लगे, उसको तो मचकमे ही अमचक है अर्थात् वह मचकमे ही समूचा चला गया है; उसे मचक कहनेका भी अधिकार नही है। ३३७.**

※

दृष्टिकी बातको मुख्य रखकर सब खतौनी करनी चाहिए। इधर [अन्तरमे] **दृष्टि होनेपर जो ज्ञान हुआ, वह (ज्ञान) वस्तुको जैसी है वैसी ही जान लेता है। इस दृष्टिके बिना तो किसी बातमे अधिक खिंच जाता है या किसी बातको ढीला कर देता है। परन्तु दृष्टि होनेपर ज्ञान** [मध्यस्थ हो जाता है, इसीलिए] **जिसकी जितनी-जितनी मर्यादा है उसके अनुसार ही जानता है।** [स्वरूपदृष्टिमे सर्वस्वरूपसे स्वस्वरूपकी उपादेयता हो जाती है। और परिणमनका ऐसा वलण हो जानेसे ज्ञानमे अविवेक उत्पन्न नही होता जिससे ज्ञान अयथार्थरूपसे हीनाधिक तूल नही देता। वैसी सम्यक् मर्यादापूर्वक ज्ञानकी प्रवृत्ति रहती है।] **३३८.**

※

शास्त्रमे सभी प्रकारकी सब पड़खोकी बाते न्याय, तर्कादिसे आती है। कोई जीव वेदान्तमेसे आया हो, कोई कहॉसे आया हो, किसीका कैसा अभिप्राय रहा हो, अतः सब प्रकारसे [विपर्यासका] **खण्डन कर, यथार्थ बात आनी चाहिए। ३३९.**

※

सब शास्त्रोका मूल तो अनुभूति पर ही आना है। ३४०

※

जिसको अनुभूति हुई हो, वह जीव अनुभवके बलसे कौनसी बात

सत्य है ? [और जो बात अनुभवसे नही मिलती वो असत्य है –'ऐसा] **फ़ौरन् जान लेता है । ३४१.**

*

इधर [अन्तर] **दृष्टि हुए बिना ज्ञान यथार्थ नही होता है । दृष्टि होनेपर उत्पन्न हुआ ज्ञान– अपना** [परमे] **कितना अटकाव है ? अपनी स्वभावमे कितनी जमावट है ? कितना रस है ? – यह सब सहज जान लेता है । ३४२.**

*

अपनेको तो ज़्यादा ज्ञानका लक्ष्य नही है [क्षयोपशम बढ़ानेकी चाहत नही है], **सुख पीनेका भाव रहता है । केवलज्ञान पड़ा है, उसके उघड़नेपर ज्ञान तो सबका हो जाऐगा । ३४३** [अगत]

*

सुखका [अतीन्द्रिय आनन्दका] **अनुभव हुआ... सो, किसीको पूछना नही पड़ता; दूसरे 'ना' कहे तो कहे, अपनेको तो प्रत्यक्ष सुख आ रहा है न ! ३४४.**

*

इधर [स्वरूपमे] **वर्तमानमें ही मुक्ति पड़ी है, वह दृष्टिमे आ गयी तो दृष्टिमे तो मुक्ति वर्तमानमे ही होगयी और व्यक्तमे भी आंशिक मुक्ति आई । और इसमे** [स्वरूपमे] **मुक्ति है तो मुक्तदशा प्रकट होगी ही । ३४५.**

*

एक भी विकल्प जो उठता है – वह चाहे चितनका ही क्यो न हो (उसमें) ऐसा लगना चाहिए कि मानो अपन छुरोके बीचमे पड़े है । विकल्पमे दुःख ही दुःख लगे तब ही सुखकी ओर ढलना होता है । ३४६.

*

शक्तिमे सुख भरा पड़ा है । विकल्पमे दुःख ही दुःख लगे तो सुख

प्रकटे बिना न रहे । ३४७.

※

[स्वलक्ष्यी] **स्वाध्यायको तप कहा है लेकिन, अरे भाई ! इधर अपनी ओर चैतन्यमे जम जाना – यह परम तप** [निश्चय स्वाध्याय] **है । स्वाध्याय तो विकल्प है, उसे उपचारसे तप कह देते है । ३४८.**

※

प्रश्न :– इसको ऑगन तो कहे न ?

उत्तर :– यह ऑगन तो है न ! ... ऑगन तो है न !... ऐसे वज़न देकरके जीव अटक जाते है; परन्तु ऑगन, घर थोड़े-ही है ? घरमे तो उसका अभाव है । [–किसी भी प्रकारके विकल्प चैतन्य-घरमे नही है ।]**३४९.**

※

जैसे व्यापारी माल देता है और उसके पैसे ग्राहक देता है, दोनोका अपना-अपना कारण है; एक दूसरेके लिए नही करते है । वैसे ही सुनानेवालेको [ज्ञानीको] **अपने कारणसे मचक आती है और करुणासे उपदेशका विकल्प आता है; और सुननेवालेको अपने कारणसे सुननेका भाव होता है ।**

जैसे व्यापारीको अन्यत्र पैसेका बड़ा लाभ होनेवाला हो तो वह ग्राहकके लिए रुकता नही है । वैसे ही यहाँ भी सुनानेवालेका विकल्प टूट जाए तो वह सुननेवालेके लिए रुकता नही है । ३५०.

※

मूल बातमे अपेक्षा लगाता है तो मुझे तो खटकता है, (क्योकि) उसमें जो तीखाश होती है वह टूट जाती है । अपेक्षा लगानेसे ढीलापन हो जाता है । [मूल बात पर जोर देते वक्त कोई अपेक्षा लगाकर, दूसरी अपेक्षासे ऐसा भी है – ऐसा कहनेसे तो मूल बात गौण हो जानेसे प्रयोजन सिद्ध नही होता, इसीलिए खटकता है ।] [वस्तु अनन्त सामर्थ्यवत है । अत उसके प्रति जोर (भीस/दबाव) आता है । परतु वही दूसरी अपेक्षा

खोल कर वैसे जोरको ढीला करना, वह अपेक्षा सम्बन्धित विपर्यास है जो खटकता है ।] **३५१.**

※

प्रश्नः— अनंत ज्ञानियोंका एकमत होनेसे ज्ञानीको निःशंकता आ जाती है ?

उत्तर :— अनंत ज्ञानियोका एकमत होनेसे नही परन्तु अपना सुख पीनेसे ज्ञानीको निःशंकता आ जाती है । [ज्ञानीकी नि शकता स्वयके उपादान/अनुभव पर आधारित है, दूसरे निमित्तके आधारित नही ।] **३५२.**

※

ख़ाली निश्चयकी बात करे और अशुभमे रस पड़ा रहे तो वह निश्चयाभासी हो जाता है । परन्तु जो निश्चय स्वभावमे ज़ोर देकर [आश्रय करके] **पर्यायकी गौणता करे, वह निश्चयाभासी कैसे होवे ?** [निश्चयाभासीको निश्चयस्वरूपका अवलम्बन नही होनेसे वह निजात्मरसके वेदनसे शून्य है । वह सिर्फ निश्चयकी बातोमे जोर देता/ लगाता रहता है । ऐसी स्थितिवश उसको अशुभमे यानी पचेन्द्रियोके विषयोमे सुखके अभिप्राय पूर्वक रस आता है, जो निश्चयाभासीका प्रमुख लक्षण है ।] **३५३.**

※

प्रश्न :— भक्ति-पूजामे आप कम जाते हो; चौबीसो कलाक (घंटो) निर्विकल्पता थोड़े-ही रहती है ?

उत्तर :— अरे ! चौबीसो कलाक निर्विकल्पता नही रहती है परन्तु उस तरफ़ ढलनेका प्रयास तो हो सकता है न ? क्या इसमे शुभभाव नही है ? — इसमे तो ज़्यादा शुभभाव है, उसकी तो गिनती ही नही; और शरीरादिककी क्रिया हो उसको गिनते हो ! ३५४.

※

जिस अपेक्षासे वस्तुका जो स्वभाव है उस अपेक्षासे शत प्रतिशत वैसा ही एकान्त स्वभाव है, वह स्वभाव अन्य अपेक्षा लगानेसे ढीला नही हो सकता । ३५५.

*

भक्तिका रागांश कभी तीव्र आ जाता है, वह भी सहज ही आ जाता है । अपनी तो सहज प्रकृति है, बलजोरी (हठ) अपनेसे नही होती । ३५६. [अगत]

*

परिणामका विवेक तो जो अनंत सुखी होना चाहते है उनको सहज होना चाहिए । ३५७.

*

‘पुरुषार्थ करूँ’ ‘ज्ञान करूँ’ – यह अभिप्राय भी हटा दे । ‘तू वर्तमानमे ही पुरुषार्थकी खान है’ । वर्तमान परिणाम ऊपरकी दृष्टि झूठी है । ३५८.

*

निमित्तोसे तो किंचित् मात्र लाभ नही है; बल्कि, उघाड़ज्ञानसे भी कुछ लाभ नही है । उघाड़ज्ञानमे तुझे हर्ष (रस) आता है तो त्रिकालस्वभावकी तुझे महत्ता नही आई है । [जिसको स्वयके पूर्ण ज्ञानस्वभावकी महत्ताका भान है, उसको उघाड़ज्ञान–अधूरीज्ञानकी पर्याय–की महत्ता नही आती ।] **३५९**

*

[द्रव्य-]**दृष्टि तो अस्थिरता और स्थिरता दोनोको ही नही क़बूलती है । ३६०.**

*

अपने त्रिकालस्वभावको पकड़े [ज्ञानमे ग्रहण किए] **बिना जीवको निश्चय प्रतीति आएगी ही नही । ३६१.**

*

सहज पुरुषार्थमे थकान नही लगेगी । सोने आदिके भावमें भी दुःख लगेगा, निद्रामे भी थकान लगेगी । [सहज पुरुषार्थके साथ सहज निराकुलता अविनाभावी रूपसे रहती है, अत सोने आदिके भावमे तथा निद्रामे भी थकान मालूम पड़ती है, ऐसा ही सहज पुरुषार्थका स्वरूप है । स्वस्वभावके अवलम्बनमे

निर्विकल्प सुख सहज वर्तता है, जबकि स्वरूपके – विश्रामधामके – अवलम्बनको छोडकर शरीराश्रित विश्रामके विकल्पमे सुख कैसा ? वह विकल्प तो स्वय ही दु खरूप है ।] ३६२.

❊

'त्रिकालस्वभाव' और 'परिणामस्वभाव' यह दोनो सर्वथा जुदा ही है, लेकिन समूचे [प्रमाणके] **द्रव्यकी अपेक्षासे उनको एक कहनेमे आता है । ३६३.**

❊

पर्याय-अपेक्षासे 'मै' शुद्धभावका कर्ता हूँ, लेकिन अशुद्धभावका 'मै' कर्ता नही हूँ । [–ऐसा कर्तागुणका स्वभाव है ।] **३६४.**

❊

एक समयके परिणाम – बन्ध-मुक्त – से वस्तु शून्य (रहित) है, ऐसा 'परमात्मप्रकाश'मे कहा है । ३६५.

❊

सुनने-करनेमे [शुभभावमे] **थकान आनी चाहिए ।**

प्रश्न :– वह तो औषधि है, अमृत थोड़े-ही है ?

उत्तर :– औषधि कहनेमे भी ढीलापन हो जाता है, ज़हर ही है । श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यने तो कहा ही है न कि 'विषकुंभ है ।' एक दफ़ा तो जड़मूलमे कुल्हाड़ा मार दो ! ३६६.

❊

प्रश्न :– एक समयके आनन्दका अनुभव तो पकड़नेमे आता नही तो कैसे ख़बर पड़े ?

उत्तर :– अरे भाई ! अनुभव ख़ुदके ख़यालमे नही आवे, ऐसा होता ही नही । [क्योकि आनन्दके अनुभवकालमे निर्विकल्प उपयोग असख्य समयका होता है ।] **परन्तु वह परिणाम हुआ कि नही ? –ऐसे विचार कर-करके क्या उसमे सन्तोष करना है ? अरे ! सदा ही निर्विकल्प रहे तो भी** [त्रिकाली स्वभावके आगे] **उसकी मुख्यता नही करनी है । ३६७.**

※

‘दृष्टि’ ऐसी प्रधान चीज़ है कि स्वभावमे दृष्टि जमते ही (सब) परिणाम खिलने लगते है । [“दसणमूलोधम्मो ।” जैसे मूलमे पानी सिचनसे वृक्ष पनपता है, वैसे ।] **३६८.**

※

पू. गुरुदेवश्री घोलन (निश्चय) से पर है; लेकिन उनके घोलनमे पर-प्रति जो करुणा है उससे न्याय आदि निकलते है । जैसे पिताका धन पुत्र बिना श्रम भोगता है, वैसे ही गुरुदेवश्रीसे मिले हुए न्याय आदिको अपन बिना श्रम भोगो ! ३६९.

※

परिणामसे भी ऊँडा, सूक्ष्माति-सूक्ष्म तत्त्व जो है सो ‘मै’ हूँ । ३७०.

※

बिजलीका करंट लगते ही भय लगता है और उससे हटना चाहते है । लेकिन त्रिकाली स्वभावमे प्रवेश करते ही आनन्दकी ऐसी सनसनाहट होती है कि उस आनन्दसे क्षण मात्र भी हटना नही चाहते है । ३७१.

※

ज्ञानके उघाड़मे रस लगता है.. तो तत्त्वरसिक जन कहते है कि हमको तेरी बोलीमे रस नही आता, हमे तो तेरी बोली काक पक्षी जैसी (अप्रिय) लगती है । ३७२.

※

सम्यग्दृष्टि जीव अपनेको सदा ‘त्रिकाली आत्मा हूँ’ ऐसा ही मानते है । ‘मै ध्रुव सिद्ध हूँ’ —जिसमे सिद्ध-दशाकी भी गौणता रहती है; सिद्ध-दशार्का भी प्रति समय उत्पाद-व्यय होता है; ‘मै तो सदा ध्रुव हूँ’ । ३७३.

※

अपने नापसे दूसरेका नाप करना — यही दृष्टिका स्वभाव है । ३७४.

※

‘मै त्रिकाली स्वभाव कभी बन्धा ही नही हूँ’ तो फिर ‘मुझे’ मुक्त

कहना तो गाली है । पर्यायको मुक्त कहो वह तो ठीक है, क्योंकि वह बन्धी हुई थी । परन्तु 'मुझे' तो मुक्त कहना भी ठीक नही है । ३७५.

❋

परिणति, द्रव्यको कहती है कि – मै भी स्वयं सत् हूँ, स्वतन्त्र हूँ, द्रव्यका अवलम्बन लेती हूँ – यह भी अपेक्षासे कहनेमे आता है; क्योंकि पर-तरफ़का वलण (झुकाव) छूटा है, इसलिए ऐसा कहनेमे आता है । असलमे तो परिणति अपने स्व-सत्मे ही है । ३७६.

❋

इतनी-सी बात है – जो उपयोग परमे झुकता है, उसको स्वमे झुकानेका है । ३७७.

❋

बात यह है कि जितना तीव्र दुःख [विकारी] पर्यायमे लगे उतना ही शीघ्रतासे मार्ग प्राप्त होवे, कम दुःख लगे तो देरी लगे । ३७८.

❋

ध्रुवगुफाके अंदर चले जावो – वहाँ आनन्द और सुखका निधान भरा है, उसको नित्य भोगो ! ३७९.

❋

पुरुषार्थ तो चारित्रमे है, दृष्टिमे क्या पुरुषार्थ !

प्रश्न :– क्या दृष्टिमे पुरुषार्थ नही है ?

उत्तर :– दृष्टिमे पुरुषार्थ तो है, लेकिन चारित्रकी अपेक्षासे बहुत कम पुरुषार्थ है । चारित्रमे तो बड़ा पुरुषार्थ है । [जिस पुरुषार्थसे सम्यग्दर्शन होता है उसकी तारतम्यता तथा मुनिदशायोग्य पुरुषार्थकी तारतम्यतामे कितना बडा अन्तर है, वह सम्यग्दृष्टिको ही मालूम पड़ता है । परन्तु मिथ्यादृष्टिको पुरुषार्थ विषयक ऐसा ज्ञान नही होता ।] ३८०.

❋

[बीमारीकी व्याख्या, ऐसी कही –] उपयोग बाहर ही बाहर घूमता रहे...बस यही बीमारी है, इसीको मिटाना है । ३८१.

❋

निवृत्त स्वरूपकी ओर जाना है तो बाहरमे भी निवृत्तिका ही लक्ष्य जाता है। ३८२.

*

निवृत्ति लेकर एकान्तमे आचार्योके शास्त्र पढ़े तो उनमेसे बहुत [ऊँड़ी] बाते निकलती है; उनमे [शास्त्रमे] तो बहुत भरा है !! आचार्योके जो शब्द हैं न...वे आनन्दकी बूँद... बूँद है; एक-एक शब्दमे आनन्दकी बूँद...बूँद भरी है; आनन्दकी बूँद...बूँद...टपकती है तो हमे रस आता है। ३८३.

*

मेरी तो ऐसी आदत पड़ गयी है कि बाहरमे चाहे-जैसी खड़खड़ाहट हो परन्तु मेरे तो इधर [अतर-परिणमन] चलता है न...! तो उधरका लक्ष्य ही नही रहता। खड़खड़ाहट तो पसंद ही नही है। ३८४. [अगत]

*

मुझे तो एकान्तके लिए समय नही मिले तो चैन ही नही पड़ता। ३८५. [अगत]

*

प्रश्न :— घरवालोकी हरएक प्रकारकी प्रतिकूलता होनेसे अपना कार्य कैसे करुँ ?

उत्तर :— अपने अंदरमे बैठकर अपना काम करो ! अपना यह कार्य अंदरमे बैठकर करनेमे न घरवाले जानेगे और न बाहरवाले जानेगे। अपन क्या करते है और कहाँ है, यह भी कोई नही जानेगा। — ऐसे अंदरमे अपना काम हो सकता है। ३८६.

*

प्रश्न :— समझ न होवे तो ?

उत्तर :— अरे ! तीव्र धगश होगी तो समझ भी आ जाएगी। [सत्यकी तीव्र झखनामे ज्ञान सहज ही खुल जाता है।] ३८७.

*

देव आदि तथा स्त्री आदि सभी एक अशुद्धताके ही निमित्त हैं; और शुद्धताका निमित्त तो एक 'आप' ही है। [सभी प्रकारके पराश्रित परिणामोसे तो अशुद्धताकी ही उत्पत्ति होती है। शुद्धताकी उत्पत्ति तो एक मात्र स्वाश्रित परिणामसे होती है।] **३८८.**

*

जिस भावसे तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव भी नपुंसकता है – अपन तो ऐसे लेते है। ३८९.

*

अपने यहाँ तो कच्ची-पक्की भूमिकाकी बात ही नही है। जो भूमिका [आश्रयस्थान] **प्रथम है, सो ही अंतमे है। अर्थात् अपन तो ऐसी भूमिका लेते है जो सदैव टिकती है, त्रिकाल है। ३९०.**

*

त्रिकालीमे एकत्व होनेपर राग ऐसा भिन्न दिखता है कि जैसे अन्य चीज़ प्रत्यक्ष भिन्न दिखाई देती है – राग इतना प्रत्यक्ष जुदा दिखता है। ३९१.

*

भगवानकी भक्तिका अर्थ – गुणानुवाद। शास्त्रस्वाध्यायमे तो इससे भी अधिक भक्ति है। ३९२.

*

विकल्पमे दुःख ही दुःख लगना चाहिए। न्याय-युक्तिसे तो ऐसा माने कि – ये विकल्प शान्तिको रोकते है, अनुभूतिको रोकते है तो दुःखरूप है; किन्तु अनुभवमे दुःख लगे तो दुःखसे हटकर सुखकी ओर जावे ही। [वेदनके विषयको मात्र समझमे लेने जितना ही नही रखना चाहिए। परन्तु सुख-दु ख जो वेदनका विषय है, उसकी समझ वेदनसे (अनुभवसे) करनी चाहिए।] **३९३.**

*

बंधन रहित स्वभावके लिए वांचन-मनन-घूँटण करूँ तो पकड़मे आवे,

ऐसी बात ही नही है। 'वह तो मै त्रिकाली ही हूँ' – ऐसे वर्तमानमे ही उसमें थॅभ जावो। [विकल्पातीत स्वभावके विकल्पसे कभी अनुभव नही होता है, परन्तु निर्विकल्पस्वभावकी प्रत्यक्षताको प्रत्यक्षतौरसे आविर्भूत करनेसें, परोक्षता विलीन होकर अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अनुभव होता है।] **३९४.**

*

परम शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा बन्धनका और मुक्तिका कर्ता ही नही है तो विकल्पका और मोक्षके कर्तृत्वका ज़ोर ख़त्म हो जाता है। त्रिकालीमे जमे रहे तो पर्याय भी इधर [त्रिकाली] **मे सहज ही आएगी। ३९५.**

*

त्रिकाली शक्तिमे अपनापन होते ही [अन्य] **सभी आलम्बन उखड़ जाते है। ३९६.**

*

चर्चा-वार्ता होती है तो स्पष्टता होती है।

प्रश्न :– फिर भी आप चर्चा आदिका निषेध क्यो करते है ?

उत्तर :– निषेध तो हर क्षण पग-पग पर करना ही चाहिए। इधर [स्वरूपमे] **ढलता जाता है तो निषेध होता जाता है। ३९७.**

*

प्रश्न :– आपकी बातमे क्रम आता ही नही, आप तो एकदम अक्रमकी बात करते है।

उत्तर :– क्रम-क्रम क्या ? अक्रमको [स्वभावको] **पकड़े तो क्रम** [शुद्धता आदि] **स्वयं होता है।** [परिणामके क्रमका विषय मात्र जाननेका विषय है, अवलम्बन लेनेका नही।] **३९८.**

*

प्रश्न :– यह सब ख़यालमे होते हुए भी अन्दर क्यो नही जम पाते ?

उत्तर :– वांचन-विचार आदि [सभी विकल्पो] **मे अन्दरसे ही खरेखर दुःख ही दुःख लगना चाहिए,** [सतुष्टपना नही होना चाहिए,]

तभी उधरसे छूटकर अन्दरमे गए बिना नही रह सकते । युक्ति आदिसे दुःख समझा, वह तो सहज दुःख कहाँ लगा ? अन्दरसे तीव्र दुःख सहज लगे तो उधरमे थकान लगनेसे, वहाँ रुक ही नही सकते; इसीसे स्वरूपमे सहज ही आना होता है । ३९९.

※

[त्रिकालीमे] **ढलन तो निरन्तर रहती ही है ।** [एकान्तमे] **तत्त्व-विचारकालमे** [ढलन] **विशेष होती है । लेकिन विचार तो अटकाव ही है, यह** [विचार आदि] **विशेष ढलनका कारण भी नही है । अशुभप्रवृत्तिमे अन्दरमे ढलन चलती है और वृद्धि होती है; तत्त्व-विचार के कालमे विशेष वृद्धि होती है । लेकिन ये** [विचार आदि] **विशेष वृद्धिके कारण नही है वे तो अटकाव ही है, इसलिए विचारमे अधिकता नही होती ।**

त्रिकालीमे ढलन होनेसे अपनने तो पर्याय मात्रको गौण कर दिया है — ध्रुवदल ही अधिक है । [मोक्षमार्गमे विचरते ज्ञानीको अपने पुरुषार्थ अनुसार ढलन (परिणति) निरन्तर वर्तती है, और वह अन्तर्परिणति सामान्यरूपसे शुभाशुभ दोनो भावोकी प्रवृत्तिके समय भी वृद्धिगत होती रहती है । फिर भी विशेषरूपसे शुभाशुभभावोमे चारित्रमोहनीयके रसकी मात्रा जितनी कम-अधिक होती है उसीके अनुपातमे पुरुषार्थकी न्यूनाधिकता होती है ।] **४००.** [अगत]

※

दुःख है तो सही, मगर उस दुःखसे बचायेगा कौन ? "खुद ही शरण है" —यही पू. गुरुदेवश्री कहते है । ४०१.

※

मुक्त-शुद्ध पर्यायसे द्रव्यको मुक्त व शुद्ध बताना — वह तो कलंक है । स्त्री द्वारा पुरुष [– पति] **की पहचान कराना, वह तो पुरुषकी हीनता है । ४०२.**

※

खुदसे च्युत होना ही सबसे बड़ा पाप है । ४०३.

❖

व्यवहारसे जो-जो साधन कहनेमे आते है वे सभी [निश्चयसे] एकान्तरूपसे बाधक है । ४०४.

❖

(मुनिको) विकल्प-अंश क्षण-भर आता है तो कहते है कि 'आकाश आदिसे भी गुरु महान् है, गुरुकी महानतामे तो आकाश राईके दानेके समान है' — ऐसा सुनकर [व्यवहारके पक्षवाला जीव] वहाँ चौंट जाता है कि इतने महान् है तो मैं विनयादि बराबर करूँ, नही तो निश्चयाभासी हो जाऊँगा । परन्तु भाई ! निश्चयगुरु तो अपना आत्मा है; — वह पड़ा रहा ! ४०५.

❖

दृष्टिका नशा चढ़ जाए तो बारम्बार अन्तरमे ही वलण होता है बाहरमे कुछ रुचता ही नही । ४०६.

❖

प्रश्न :— तो क्या नशेकी माफ़िक दृष्टिका स्वरूप है ? अन्य कुछ देखती ही नही ।

उत्तर :— हॉ ! दृष्टिका नशा ही ऐसा है, अन्य कुछ देखती ही नही; एक अपनी ओर [स्वरूपकी ओर] ही दौड़ती है । इसीलिए तो कहते है कि सम्यग्दृष्टिको बाहरमे, चर्चा आदिमे रुकना रुचता ही नही, वह तो अन्दर ही अन्दर जाना चाहता है । ४०७.

❖

शास्त्रमे आता है कि मुनिको रोग आदिके होनेपर वैयावृत्त्य करनी चाहिए । अरे भाई ! ऐसा तो उस कालमे सहज विकल्पमे खड़ा हो, उसकी बात है । मुझे ऐसा करना चाहिए, ऐसा करना चाहिए — ऐसी पहलेसे दृष्टि रखी तब तो आस्रवकी भावना होगई । [यद्यपि धर्मात्माको गुणस्थान अनुरूप सविकल्पदशाके कालमे यथोचित विकल्प सहज आ जाता

है, तथापि उपदेशात्मक वचनमे 'वह कर्तव्य है,' ऐसा भी वचनव्यवहार होता है, तो भी ऐसे जाननेके विषयको, जाननेके अभिप्रायकी मर्यादामे नही रख करके यदि उसे आदरनेका अभिप्राय हो जाए तो आस्रवकी भावना हो जाती है अर्थात् आस्रवभाव आदरने योग्य है, ऐसा अभिप्राय हो जानेसे सवरका मार्ग वन्द हो जाता है ।] ४०८.

*

अलग-अलग कालमे क्षणिक शुभविकल्प जो योग्यतानुसार होनेवाले है सो हो जाते है ।

प्रश्न :— भूमिकानुसार ऐसे विकल्प होते है — ऐसा न लेकर, होनेवाले होते है; ऐसा क्यो लेते है ?

उत्तर :— भुमिकानुसार ऐसे विकल्प होते है — ऐसे लेनेमे, उसकी दृष्टि वैसे परिणाम करनेमे चोट जाती है । और, होनेवाले योग्यतानुसार होते है — इस [अभिप्रायमे] **दृष्टि परिणाम करनेपर नही रहती बल्कि अपरिणामीपर दृष्टिका ज़ोर रहता है ।** ४०९.

*

असलमे तीव्र रुचि हो तो त्रिकालीदलमे ही जम जाये; इधर-उधरकी जॅचे ही नही, [व्यवहारके विकल्पमे रुके ही नही,] **योग्यतापर छोड़ देवे, वहॉ ज़ोर** [पुरुषार्थ] **रहे ही नही; दृष्टिके विषयमे ही ज़ोर रहे ।** [इधर-उधरका विकल्प रहा करता है, वह स्वरूपकी अरुचिके परिणामका द्योतक है । स्वरूपकी तीव्र रुचिमे अन्य विकल्प नही रुचते ।] ४१०.

*

सुनने-करने आदिके भावमे जो पुण्य होता है, वह तो मध्यम प्रकारका पुण्य है; और इधर स्वसन्मुखताका प्रयास चलता हो तो उसमे उत्कृष्ट पुण्य होता है । ४११.

*

[रागादिकके] **वेदनमे दुःख लगे, सह न सके, तो अवेदक स्वभावको पकड़े बिना न रहे ।** ४१२.

*

[चर्चा सुननेवालोको लक्ष्यमे लेकर] **सुननेकी रुचि तो सभीकी ठीक है; परन्तु उससे अनन्तगुनी रुचि अन्दरकी होनी चाहिए।** [वास्तवमे स्वरूपकी रुचिका ऐसा स्वरूप है कि इसके आगे तत्त्व सुननेकी रुचि कुछ नही है। अत तत्त्व सुनने-पढने आदिकी रुचिमे मुमुक्षु जीवको ठीकपना नही लगना चाहिए। 'अन्तर्मुख होनेमें बहुत वाकी है' – ऐसा खयाल रहना चाहिए।] **४१३.**

*

प्रश्न :– सुख तो अन्दरमे है, फिर वृत्ति बाहरमे क्यो दौड़ती है ?

उत्तर :– 'सुख अन्दरमे लगा ही नही' वह तो नाम-निक्षेपसे ख़यालमे आया है कि सुख 'यहॉं' है; असलमे तो [भावभासनपूर्वक] **वैसा लगा नही। ४१४.**

*

प्रश्न :– अव तो [समझ हुए पीछे] **प्रयोग करनेका रहता है ?**

उत्तर :– फिर भी वही बात आ जाती है ! प्रयोग ही 'मै' नही हूँ, तो करना क्या ? प्रयोग पर्यायमे हो जाता है। ४१५.

*

असलमे वलवान वस्तुका वेल आना चाहिए। ४१६.

*

विकल्प, दुःखरूप लगना – यह भी नास्ति है। अस्तिमे तो 'मै सुखसे भरपूर हूँ, सुखकी खान हूँ।' ४१७.

*

[चर्चा सुननेवालोके प्रति] **सभीकी लगनी तो अच्छी है; लेकिन यथार्थ लगनी लगे तो हर समय यही** [स्वरूपघूँटण] **चलता रहे** [– इसमे] **कितना समय चला जाये मालूम ही न पड़े। रुचिका स्वरूप ही ऐसा है कि – जहॉं लगे वहॉं काल (समय) दिखे ही नही। ४१८.**

*

प्रश्न :– परिणतिको अन्दर कैसे वालना [अन्तर्मुख करना] **?**

उत्तर :– परिणति 'वालना' और 'नही वालना,' वह [ऐसा कर्ता] 'मै' नही हूँ – ऐसी दृष्टि होते ही परिणति वल (झुक) जाती है। ४१९.

*

किसीके भी प्रति अनहद प्रेम हो तो ख़ुदको ही भूल जाते है। ४२०.

*

बात सुनते ही चोट लगनी – यह भी एक पात्रता है। ४२१.

*

बोलनेमे ख़ुदका अभिप्राय आए बिना रहता ही नही। दूसरेकी बात कहने जावे लेकिन अपना रस साथमे आ जाता है। ४२२.

*

[अज्ञानीकी] धारणा तो बन्द तिजोरीके माफ़िक है, धारणा जवाब नही देती। प्रसंग आनेपर दुःख तो वेद ही लेवे, और फिर थोड़ी देर पीछे स्मरण करके समाधान करे – ऐसी धारणाका क्या ?? अनुभववालेकी तो तिजोरी खुली हुई है। ४२३.

*

'पक्ष करना' कहनेमे आता है तो जीव पक्षमे बैठ जाता है। अरे भैया ! [पक्षातिक्रात होनेवालेको] पक्ष तो हो जाता है, (उसे) स्वभाव रुचता है तो स्वभावका पक्ष हो ही जाता है। लेकिन पक्ष करने तक का ही प्रयोजन थोड़े है ? ४२४.

*

प्रश्न :– पहले चितन होता तो है न ?

उत्तर :– अरे भाई ! पहले-पीछेकी बात ही नही है; 'मै ही पहला हूँ' – यहाँसे लो। चितन हो...लेकिन 'पहले' कहनेसे तो उसपर वज़न आ जाता है।

चितन आदिसे आगे बढ़ना होता है – ऐसा कहनेमें आता है; चूँकि पहले लक्ष्य यथार्थ होगया है तो इसका चितन चलता है, लेकिन इसका

[भिन्न आदिक] भी निषेध करते-करते आगे बढ़ता है । [स्वरूपलक्ष [illegible] – मा [illegible] नहीं है । [illegible] भिन्न [illegible] जो भिन्नक [illegible] [illegible] । [illegible]] ४२५.

'खुद ही से काम होगा' यह तो पहले ही पक्का हो जाना चाहिए । खुदका बल आए बिना तो [[illegible]] कोई आधार [[illegible]] नही है । ४२६.

'मै वर्तमानमे ही परिपूर्ण हूँ' —ऐसा सुनते ही, कुछ करना -कराना है ही नही — ऐसा उल्लास तो प्रथमसे ही आना चाहिए; और फिर उसीकी पूर्तिके लिए प्रयास करना है । ४२७.

'पहले मै सब समझ लू [[illegible]] पीछे प्रयास करूँगा' — ऐसे तो कार्य होगा ही नही । [[illegible]] प्रयास तो सुनते ही चालू हो जाना चाहिए । फिर थोडी रुकावट आवे तो उसे दूर करनेके लिए सुनने-समझनेका भाव आता है; परन्तु 'मै वर्तमानमे ही परिपूर्ण हूँ' — वहाँ चोंटे (वलगे) रहकर ही सब प्रयास होना चाहिए — वहाँसे तो छूटना ही नहीं चाहिए । ४२८

केवलज्ञानसे अपनेको लाभ होनेवाला नही ओर शुभाशुभभक्तिसे अपनेको नुकसान होनेवाला नहीं, 'मे तो ऐसा तत्त्व हूँ ।' [ध्रुवतत्त्व, उत्पाद-व्ययसे निरपेक्ष है — ऐसी दृष्टिकी बात है ।]

जैसे कोई मेरुसे माथा फोडे तो उससे मेरु हिलता नही है, ऐसे ही परिणाम मेरेसे टकराते है तो भी 'अपन' परिणामसे हिलनेवाले नही है । ४२९.

परिणाममे बैठे हो तो द्रव्यमे बैठ जाना है। परिणाम तो कम्पायमान है; द्रव्य निष्कम्प है। कॉपनेवाले परिणामके आश्रयसे कम्पित ही रहोगे; निष्कम्प द्रव्यके आश्रयसे निष्कम्पता होगी। ४३०.

*

संग करनेका भाव आवे, तब भी 'संग नही करना है' — ऐसा भाव क़ायम (मुख्य) रख कर ही संगका भाव होना चाहिए। ['असग ही हूँ' ऐसी दृष्टि रखकर अथवा ऐसी दृष्टि करने हेतु सत्सगकी भावना रहनी चाहिए।] ४३१.

*

अपनेको भावाकार [परिणामरूप] मत बनाओ, लेकिन भावोको अपने आकार [रूप] बनाओ। ४३२.

*

एक समयकी पर्यायमे अपनापन करके ढीलाढच रहनेसे तो कर्मवर्गणाये घुस जाती है; और त्रिकाली नक्कर स्वभावमे अपनापन होते ही, तणाव (खिंचाव) होते ही, कर्मादि भागने लगते है। ४३३.

*

प्रश्न :— सामान्य पड़खेको ही जुदा पाड़नेका है न ?

उत्तर :— ऐसा कहनेमे आता है। सामान्य पड़खा तो जुदा ही पड़ा है, लेकिन परिणाममे एकत्व कर रखा है — इसलिए अलग पाड़नेका कहनेमे आता है; असलमे तो जुदा ही पड़ा है। ४३४.

*

(मुझे) द्रव्यका बहुत पक्ष हो गया है — इसलिए कथनमे द्रव्यसे [द्रव्यकी प्रधानतासे] ही सब बाते आती है। ४३५. [अगत]

*

जीवको [वर्तमानमे] दुःख लगे तो प्रयास कर-करके सुखको ढूँढ लेता है। लेकिन जो धारणामे ही संतुष्ट हो जाता है तो (उसे) दुःख नही लगता, इसलिए इधर [अन्तर्मे] ढूँढ़ता ही नही। [वर्तमानमे दु ख

होनेपर भी दुःख नही लगता है इसका कारण यह है कि उसे धारणाज्ञानमे ही सन्तोष वर्तता है, जिससे सुखके लिए प्रयास चालू नही होता है ।] ४३६.



इधरकी [त्रिकालीकी] दृष्टि होते ही [पर्याय अपेक्षा] मुक्ति चालू हो जाती है । चालू क्या हो जाती है ! [द्रव्यदृष्टिअपेक्षा या भावीनयसे] मुक्ति हो ही गई । ४३७.



असलमे द्रव्यका [भावभासनपूर्वक] पक्का (यथार्थ) पक्ष आ जाना चाहिए । अनादिका पर्याय-पक्ष छूट जाना चाहिए । ४३८.



प्रश्न :– अन्दरमे तो कुछ दिखता नही और स्थिरता होती नही, इसलिए सुननेका भाव [अभिप्राय] रहता है । – क्या करे ?

उत्तर : – इसमे तो व्यवहार श्रद्धा भी नही आई । 'सुननेका अभिप्राय ही नही होना चाहिए ।' [सुननेका राग होना और अभिप्राय होना – इन दोनोमे बहुत फर्क है ।] सुनते ही इधरका [अन्तर्मुखताका] प्रयास चालू हो जाना चाहिए । [तत्त्वश्रवणके सम्बन्धमे ऐसा अभिप्राय रह जाना कि श्रवण करते-करते आत्मलाभ हो जाएगा तो वह साधनविषयक बुद्धिपूर्वककी भूल है जिससे गृहीतमिथ्यात्व होता है । जिसका सुनते ही प्रयास चालू होता है, ऐसे वर्तमान पात्र जीवके वैसी भूल नही होती । यद्यपि सुननेका राग छद्मस्थअवस्था तक संभव है तथापि यथार्थतामे किसी भी रागका अभिप्राय नही होता । राग व रागके अभिप्रायमे दिन-रात जितना अन्तर है ।] ४३९.



[भेदबुद्धिसे] एक-एक पड़खेको जानने जाते है तो अखण्ड वस्तु जाननेसे रह जाती है । ४४०.



उपयोग बाहरमे जाता है तो 'अपने' [निर्विकल्प] अनुभवमे अन्तराय

आता है। ४४१.

*

'दृष्टि' वस्तुका अवलम्बन क्या लेती है !! — वह तो समूची वस्तुको ग्रास कर लेती है; पूरी की पूरी वस्तुमे व्याप्त हो जाती है; मालिक बन जाती है। मालिक कहनेमे भी भेद आ जाता है, 'दृष्टि' तो स्वयं ही उस वस्तुरूप है। ४४२.

*

'वेदान्त' न हो जाए; इसलिए जरा-सी पर्यायको बताते है, तो [अज्ञानी] वहाँ चोट [चिपक] जाता है। ४४३.

*

'पर्यायमे अपनापन' — वही असलमे 'बौद्धमति' है। ४४४.

*

सहज सुख [अन्य] सभीका सहज ही निषेध करता है। ४४५.

*

एक आदमीने कहा कि मुझे तो ज्ञानमार्ग कठिन लगता है, भक्तिमार्ग अच्छा लगता है। अरे भैया ! एक ही चीज़मे [स्वरूपमे] रस आना—वही भक्ति है। भक्तिके रागका अनुभव तो अमृतको छोड़कर कीचड़का अनुभव है। अपनी चीज़मे स्थिर होकर ठहर जाना, वही यथार्थ [अभेद] भक्ति है। ४४६.

*

रुचि तो उसको कहते हैं कि जिस विषयकी रुचि होवे उसके बिना एक क्षण भी नही चल सके। पतंगा दीपकको देखते ही चोट (झपट) जाता है, विचार नही करता। ऐसे ही, विचार...विचार करते रहनेसे क्या ? वस्तुके ही चोट जावो ! पूरी की पूरी वस्तुमे व्याप्त होकर (उसे) ग्रस लो ! ४४७.

*

[उघाड पर जिसकी दृष्टि है, उसको] क्षयोपशम बढ़ता जाता है तो साथ-साथ अभिमान भी बढ़ता जाता है। ४४८.



मुँहमे पानीके साथ कचरा आते ही खदबदाहट होनेसे उसे मुँहसे निकाल (फेंक) दिया जाता है । ऐसे ही रागका वेदन तो कचरा है, ज्ञानी उसको अपना नही मानते । ज्ञानीको किसी भी क्षण रागमे अपनापन आना ही नहि । ४४९.



ज्ञानीको राग बोझारूप लगता है । भारी चीज़के ऊपर हलकी चीज़ हो तो बोझ नहि लगता; लेकिन हलकी चीज़ पर तो भारी चीज़का बोझा लगता ही है । ऐसे, ज्ञानीको राग बोझारूप लगता है, खटकता है, खुँचता (सालता) है । ४५०.



विचार और धारणामे वस्तुको पकड़नेकी सामर्थ्य ही नहि है । अज्ञानी वस्तुको पकड़ना [[illegible]] नहि है । विचारमे तो वस्तु परोक्ष और दूर रह जाती है । ४५१.



प्रश्न :— प्रतिकूल संयोगमे तो दुःख लगता है लेकिन विकारीभावमे दुःख नहीं लगता ?

उत्तर :— यह तो बहुत स्थूलता है । विकारीभाव हुआ — वही प्रतिकूल संयोग है, वही दुःख है, उसका दुःख लगना चाहिए । ४५२.



आत्माके एक-एक प्रदेशमे अनन्त-अनन्त सुख भरा है — ऐसे असंख्य प्रदेश सुखसे ही भरपूर है; चाहे जितना सुख पी लो ! कभी खूटेगा ही नहीं । हमेशा सुख पीते रहो फिर भी कमी नही होती । ४५३.



सोचते रहनेसे तो जागृति नही होती, ग्रहण करनेसे ही जागृति होती है । सोचनेमे तो वस्तु परोक्ष रह जाती है और ग्रहण करनेमे वस्तु प्रत्यक्ष

होती है। सुनते रहने और सोचते रहनेसे तो वस्तुकी प्राप्ति नही होती। [स्वरूप] **ग्रहण करनेका** [– अपने अस्तित्वको रुचिपूर्वक वेदन करनेका] **ही अभ्यास शुरू होना चाहिए।** [मुमुक्षुजीवको सामान्य भावनासे तत्त्वविचार चलता है। सोचना-विचारना तो बहिर्मुख भाव है, इसमे वस्तु परोक्ष रहती है, और ऐसेमे स्वयके महान् अस्तित्वकी जागृति नही होती। किन्तु स्वरूपकी अनन्य रुचिसे 'ज्ञानमात्र' के वेदनसे प्रत्यक्ष तौरसे अस्तित्व ग्रहणका प्रयास होना चाहिए – ऐसे प्रयाससे अतर्मुखता प्राप्त होती है।] ४५४.

❊

वस्तु तो शुद्धभक्तिका [परिणामका] **भी निषेध करती है।** [अर्थात् – वस्तु शुद्धपर्यायसे भी निरपेक्ष है]। **शुद्धभक्ति, व्यवहारभक्तिका निषेध (उपेक्षा) करती है। व्यवहारभक्ति, अन्य सब पदार्थोका निषेध (उपेक्षा) करती है।** ४५५.

❊

रुचि अपने विषयमे बाधक पदार्थोको फटा-फट हटा देती है, उनमे रुकती नही; (सीधे) अपने विषयको ही ग्रहण कर लेती है। ४५६.

❊

जिसको जिसकी प्राप्ति करनी है उस विषयमे उसको सूक्ष्मता आ जाती है अर्थात् प्रयोजनके विषयमें बुद्धि अधिक सूक्ष्म हो जाती है। ४५७.

❊

प्रश्न :– नज़रमे तो पर पदार्थ आते है, स्व वस्तु नज़रमे नही आती, तो क्या करना ?

उत्तर :– जिस क्षेत्रमे नज़रका परिणमन हो रहा है, उसी आखे के आखे (पूरे के पूरे) क्षेत्रमे वस्तु पड़ी है। जहाँसे नज़र उठती है...वही वस्तु है। अतः नज़र जहाँसे उठती है...वही वस्तुको ढूँढ लो ! ४५८.

❊

प्रश्न :– उपयोग स्वसन्मुख होता है तब जो [परसे] **भिन्नता भासती है, वैसी** [भिन्नता] **विकल्पके कालमे भासती है क्या ?**

उत्तर : – विकल्पके कालमे भी प्रत्यक्ष भिन्नताका अनुभव है। मगर उपयोगको क्यो मुख्य करते हो ? 'मै तो ध्रुवतत्त्व हूँ,' इसकी मुख्यता करनी चाहिए। श्रद्धा-ज्ञान, विकल्पके कालमे [धारणाकी माफिक] ख़ाली पड़े हुए नही है, लेकिन परिणमनरूप है। ४५९.

∗

वस्तुको ग्रहण करना, पकड़ना, सन्मुख वलना (ढलना) – यह सब कथनमे आता है। असलमे तो त्रिकाली वस्तुमे अहम्पन आ जाना, उसीको – ग्रहण किया, सन्मुख हुआ, आश्रय लिया, पकड़ा, – ऐसा कहते है। असलमे परिणाम भी सत् है, उसको अन्यका अवलम्बन नही है। ४६०.

∗

हर क्षण मृत्युके लिए तो तैयार ही रहना; कभी भी हो और कैसी भी वेदना हो – सातवी नरक जैसी भी वेदना हो, फिर भी क्या ? [मृत्यु तथा मृत्युकी वेदना – दोनोसे 'मै' अधिक हूँ, ऐसा मे मेरे स्वसवेदनसे अनुभव करता हूँ।] ४६१.

∗

विकल्पात्मक निर्णय छूट कर स्वआश्रित ज्ञान उघड़ता है। जो ज्ञान सुखको देता है, वही ज्ञान है। ४६२.

∗

व्यवहार, व्यवहारकी अपेक्षासे सत्य ही है। ४६३.

∗

जिस चीज़को पकड़नी है उसको पहले पूरी समझ लेनी [यथार्थ निर्णय कर लेना] चाहिए। ४६४.

∗

परसन्मुख उपयोग होता है, वह आत्माका उपयोग ही नही है, [वह तो] अनुपयोग है। आत्माका उपयोग तो परमे जाता ही नही; और परमे जावे वह [आत्माका] उपयोग ही नही। ४६५.

∗

ध्रुवतत्त्वको समझनेके लिए पर्यायके सिवाय अन्य कोई उपाय नही है, इसीलिए पर्यायसे सभी बाते कहनेमे (समझानेमे) आती है । ४६६.

❊

[एक समयका] **अनन्त आनन्दका वेदन आवे – वह भी 'मै'** [त्रिकाली तत्त्व] **नही हूँ; क्योकि वेदनका 'मेरे' मे** [त्रिकालीमे] **अभाव है । 'मै' एक समयके वेदनमे आ जाऊँ तो 'मेरा' नाश हो जाए ।** ['मै' एक समयकी पूर्ण पर्याय जितना-ही नही हूँ, लेकिन पूर्ण पर्यायसे भी अधिक हूँ – ऐसा कहनेका भाव है ।] **४६७.**

❊

विकल्प उठे तो ऐसा कहे कि 'हे गुरु ! आप मेरे सर्वस्व है' (लेकिन) उसी समय अभिप्राय तो यह कहता है कि 'मुझे आपकी ज़रूरत नही,' 'मेरा सर्वस्व तो मेरे पास है' इतना विश्वास और (स्वरूपका) उल्लास तो ज़रूर आजाना चाहिए कि [मेरे कार्यके लिए] **मुझे देव-गुरुकी भी ज़रूरत नही; सुनने-करनेकी भी ज़रूरत नही, मेरा कार्य मेरे** [अन्तर्-पुरुषार्थ] **से ही होगा । ४६८.**

❊

दूसरेमे लाभबुद्धि है, तभी तो उसीमे जुड़नेकी तीव्र वृत्ति नियमसे रहती है । ४६९.

❊

दृष्टि तो हर समय अपनेको पूर्ण ही देखती है । मुनि भी ऐसा कहते है कि 'हम तो पामर है' लेकिन उन्हे तो अपनी खिली हुई परिणतिका मुक़ाबला पूर्ण (स्वरूप)के साथ करते हुए, अपनी पामरता लगती है– इस अपेक्षासे [अपनेको पामर] **कहते है । दृष्टि तो साधक-बाधकपना ही नही स्वीकारती है । ४७०.**

❊

पर्याय नई घड़नी नही है । इधर [अन्तर] **दृष्टि होते,** [शक्तिरूप / योग्यतारूप] **पड़ी है...सो प्रकट हो जाती है । ४७१.**

❊

[अज्ञानीके] परलक्ष्यी उपयोगमे [ज्ञानमे] रागको भिन्न जाननेकी ताक़त ही नही है । परलक्ष्यी उपयोगको तो अचेतन ही गिननेमे आता है । ४७२.

⁘

पहले तो असली [निरपेक्ष] वात नक्की कर लो, फिर अपेक्षित वातोका खतियान कर लो । एक ओर, परद्रव्यका चितन रागका कारण बतावे; दूसरी और, केवलीके द्रव्य-गुण-पर्यायका चितन मोहक्षयका कारण बतावे; – सो परद्रव्यका चितन रागका कारण है, यह तो 'सिद्धान्त' है; और मोहक्षयका कारण तो 'निमित्तकी अपेक्षा'से वताया है । ऐसे सभी जगह 'निरपेक्ष' वात निश्चितकर, फिर 'अपेक्षित' वातको समझ लेना है । ४७३.

⁘

मृत्यु कव आनेवाली है, यह तो निश्चित [जानकारीमे] नही है, परन्तु आने की है सो तो निश्चित है; इसलिए हर क्षण तैयार रहना है । शरीरके टुकडे-टुकडे हो जाएँ; रोम-रोम पर धधकती सूईयाँ लगा दी जाएँ...फिर भी, 'अपने ध्रुव तत्त्व'मे इनका प्रवेश ही कहाँ है ? ४७४.

⁘

पहले ही से शरीरसे भिन्नताका जिसने [प्रयोगात्मक] अभ्यास किया है, वो ही मरण समय [पुरुपार्थमे] टिक सकता है । क्योकि जिसकी जो रुचि होती है, वही मरणके समय मुख्य हो जाती है । अतः जिसने पहलेसे ही भिन्नताका अभ्यास किया है, वो ही टिक सकेगा ।

उत्कृष्ट पात्र होवे – जिसकी एक-आध भवमे मुक्ति होनेवाली हो, वही [मरण-समय] निर्विकल्प समाधि रख सकता है । उससे नीचे [कम योग्यता] वालेको विकल्प पूर्वक [आत्म-लक्ष्य सहित] इसी तत्त्वकी दृढताका चितन चलता है । उससे नीचेवालेको देव-शास्त्र-गुरुकी भक्तिका विकल्प आता है । साधकको तो आकरी (तीव्र) वेदना आदि हो, कुछ भी न चले, तो भी ध्रुव तत्त्वकी अधिकता तो छूटती ही नही । ४७५.

*

अपनेसे अपनी पात्रता मालूम हो जाती है; दूसरा कहे, न कहे – इससे मतलब नही है। द्रव्य स्वतंत्र है न ! इसको परकी अपेक्षा ही नही है। ४७६.

*

प्रश्न :– ज्ञानीको आंशिक शुद्धताका ध्येय नही है ?

उत्तर :– आंशिक शुद्धता क्या ? पूर्ण शुद्धताका [एक समयकी भेदरूप अवस्थाका] **भी ज्ञानीको ध्यान नहीं है। 'मैं तो त्रिकाल शुद्ध ही हूँ।' ४७७.**

*

आचार्यदेवने 'नियमसार' मे कहा है कि – भाई ! केवलज्ञानादि (क्षायिक) पर्याय भी परद्रव्य है, परभाव है, हेय है। – तब तुम क्षयोपशमज्ञानमे तो रुको ही मत। ४७८.

*

जहाँ तक परिणामका लक्ष्य रहता है वहाँ तक 'मै पुरुषार्थ करूँ, अन्तरमे वलुँ (ढलुँ) – ऐसे कर्तृत्वका बोझा रहा ही करता है।' इसलिए तो कहता हूँ कि 'भाई ! तू परिणाम मात्रका लक्ष्य छोड़; विकल्प-निर्विकल्प सभी पर्यायोंका लक्ष्य छोड़; अनुभव हुआ, नही हुआ वह न देख।' [मुमुक्षुजीवको तत्त्वविचार चलता है, उसमे जब तक उक्त प्रकारके परिणाम आते है तब तक उसका वैसे परिणामोपर वजन / जोर जाता है तो जिस मात्रामे पुरुषार्थ सामान्यस्वरूपके प्रति होना चाहिए, वह उत्पन्न नही हो पाता है। अतएव तत्त्वविचारक मुमुक्षुको तदविषयक अत्यन्त सावधानी आवश्यक है।] **४७९.**

*

मिथ्यात्व हो या सम्यक्त्व हो, यह देखो ही मत ! 'मै तो ध्रुव तत्त्व हूँ' – यहाँ आते ही मिथ्यात्व-पर्याय भी निश्चयसे-नियमसे चली जाएगी। दृष्टिके निर्णयमे पूर्ण शुद्धि भरी हुयी है। [दृष्टिके विषयभूत स्वस्वरूपमे पूर्ण

शुद्धि भरी है, अत उसके निर्णयमे भी अर्थात् निर्णयके गर्भमे भी पूर्ण शुद्धिका सत्त्व है। स्वरूपनिर्णयके कालमे नियमसे स्वरूपअस्तित्वका ग्रहण होता है और स्वभावके सस्कार ऐसे पड़ते है कि जिसके फलस्वरूप सिद्धपद प्रगट होगा ही। ऐसे दृष्टिके विषयभूत स्वस्वरूपका निर्णय होते ही सभी अवस्थाओके प्रति उपेक्षा सहज ही हो जाती है।] ४८०.

✣

यह ध्रुवतत्त्व किसीको नमता (झुकता) ही नही है। खुदकी सिद्धपर्यायको भी नही नमता। ४८१.

✣

मुनिके पास कोई शास्त्र हो और दूसरा कोई उस शास्त्रको माँगे, तो मुनि फ़ौरन् दे देते है, क्योकि वे खुद ही तो पराश्रयभाव छोड़ना चाहते है, इसीसे माँगे तो सहज दे देते है। [मुनिदशामे उपकरणके प्रति भी ममत्व नही होता है।] ४८२.

✣

ज्ञानीको भगवानकी रागवाली भक्तिका प्रेम होता है, लेकिन इधरकी [आत्माकी] **भक्तिमे जैसा प्रेम है वैसा वहाँ नही होता। ४८३.**

✣

[स्वयके बारेमे] **मै तो विकल्पोसे एकदम थक गया था; तभी** [जैसे कोई] **ऊपरसे एकदम नीचे पटके, वैसे पर्यायसे छूटकर** [जोर पूर्वक चेष्टासे] **अन्दरमे** [निर्विकल्प अनुभवमे] **उतर गया। ४८४.** [अगत]

✣

[शुरू-शुरूमे धार्मिक] **पुस्तकोका बहुत पठन था, सैकड़ों पुस्तके पढ़ ली थी, मगर दृष्टि नही मिली। पू. गुरुदेवश्रीसे दृष्टि मिली, पीछे पुस्तक पढ़नेका रस कम हो गया। ४८५.** [अगत]

✣

जैसे संयोगकी इच्छावालेको इच्छानुसार संयोगका मिलना पुण्यका

उदय तो है, लेकिन उसमे [भोगनेमे] **वह पापकी पुष्टि करता है। वैसे ही देव-शास्त्र-गुरुका मिल जाना यह पुण्यका उदय तो है, लेकिन उनके प्रतिके भावमे** [शुभभावमे] **मग्नता** [एकत्वबुद्धि] **होनी, वह मिथ्यात्वके पापकी ही पुष्टि है।** [देव-शास्त्र-गुरु वास्तवमे तो भेदज्ञानके निमित्त है। फिर भी जो जीव इस तथ्यसे अनभिज्ञ है, वह मात्र शुभभावमे एकत्वबुद्धिको दृढ करता हुआ परिणमता है, जिससे उसे आत्महितकी जगह उलटे मिथ्यात्वकी ही पुष्टि हो जाती है।] **४८६.**

❋

रात्रिमे निद्रा सहज कम हो जाती है, क्योकि आराम तो सच्चे स्वरूपमे ही है; तो उस तरफ़की एकाग्रतामे निद्रा तो सहज ही कम हो जाती है।

जिसको सारे दिन इधर-उधरके विकल्पोकी थकान बहुत होती है उसको आरामके लिए निद्रा विशेष आती है। लेकिन जिसको इधर-उधर करनेका कर्तृत्व ही टूट गया है उसे थकान न होनेसे निद्रा भी कम आती है। जैसे मुनिराजोंको अन्तरकी जागृतिके कारण विकल्पकी थकान नही है तो निद्रा भी कम है।

मुझे तो (सोते वक्त) पहले दो घण्टे नीद नही आती है, फिर थोड़ी नीद आजाए तो जगते ही ऐसा लगता है कि – क्या नीद आगयी थी ! पीछे नीद उड़ जाती है और यही [स्वरूप-घोलन] **चलता रहता है। ४८७.** [अगत]

❋

जैसे उधरके पण्डितोंको लगता है कि हम सब जानते है; वैसे वांचनकार हो जावे और उघाड़ हो जाए तो (लोग) 'हम समझते है' – [ऐसे अहमूमे] **अटक जाते है। – ऐसे वह उघाड़, रुकनेका (अटकनेका) साधन हो जाता है। पण्डितोका संसार तो शास्त्र कहा है न ! ४८८.**

❋

असलमे सुनने आदिका रस कम हो जाना चाहिए, – वह कम कब होगा ? कि – जब अन्दरका रस बढ़ता जावे तभी उधरमे रस कम होता जाता है । [इसलिए] **शुरूसे ही उधरमे** [सुनने आदिमे] **ज़ोर नही आना चाहिए ।** [मुमुक्षु जीवको शुभभावमे रस आता है, वह भी विभावरस ही है । सिद्धान्त तो यह है कि कही भी (शुभाशुभभावमे) विभावरस तीव्र नही होना चाहिए । अत ऐसी समझपूर्वक अत्यन्त सावधानी रहनेसे, उक्त प्रतिबन्धक रस तीव्र न होनसे, अन्तरस्वभावरस उत्पन्न होनेका अवकाश बनता है, ओर वेसे अवकाशसे अन्तरस्वभावरस आविर्भूत होनेकी प्रक्रिया सम्भवित हे ।] ४८९.

∻

दूसरोके लिए अमुक प्रवृत्ति करना, वह तो बोझा हो गया । यहाँ [मुझे] **तो सहजकी आदत है । दूसरे अपने लिए चाहे जैसा अभिप्राय बाँध ले ।** [निर्दोपको शका या चिता नही रहती । परलक्ष्यीप्रवृत्ति लोकसज्ञारूप आत्मघाती बड़ा भारी दोप है ।] ४९०. [अगत]

∻

प्रश्न :– यह सभी बात सत्य है, लेकिन विकल्प टूटता नही है ?

उत्तर :– विकल्पसे क्यो ड़रते हो ? इसको भी इसीकी सत्तामे रहने दो; और तुम तुमारी त्रिकाली सत्तामे रहो । विकल्पको तोड़ने-मोड़ने जाओगे तो तुमारी ध्रुवसत्ताका [श्रद्धामे] **नाश होगा, और फिर भी ये विकल्प तो टूटेगे नही ।** ४९१.

∻

सागरो तक बारह अंगका अभ्यास करते है, लेकिन इस परलक्ष्यी ज्ञानसे तो नुकसान ही नुकसान है । जो उपयोग बाहरमे जाये तो दुःख होवे ही; स्वउपयोगमे ही सुख है । [यहाँ परसत्तावलम्बनशीलज्ञानका निषेध है ।] ४९२.

∻

पर्यायको स्वसन्मुख करुँ, अन्तरमे वालुँ, अन्तरमे ढलुँ – ऐसी-ऐसी [पर्यायके कर्तापनेकी] सूक्ष्म भ्रांति जीवको रह जाती है। पर्यायका मुख (दिशा) पलटना है, इस अपेक्षासे यह बात सच है; लेकिन ध्रुवपर बैठते ही वह [स्वसन्मुखपना] सहज होता है। ४९३.

*

जैसे भी परिणाम हो, लेकिन अपन उसके गुलाम क्यो ? ['मै' तो एक समयके परिणामसे निरपेक्ष ध्रुवतत्त्व हूँ।] ४९४.

*

स्वच्छन्दसे डरो मत ! [स्वरूपके अभानमे] अभी तक स्वच्छन्द ही तो चलता आया है। अब तो 'सहज स्वच्छन्द [–स्वमे प्रवृत्तिरूप] दशा' प्रकट करो ! विवेक अपने आप आ जाएगा। ४९५.

*

प्रश्न :– ध्रुवतत्त्वका माहात्म्य विशेष है कि ध्रुवको पकड़नेवाली पर्यायका ?

उत्तर :– अपनी-अपनी अपेक्षासे दोनोका माहात्म्य है। असलमे तो ध्रुवतत्त्वका ही माहात्म्य है। पर्यायका माहात्म्य आनेसे तो जीव पर्यायमे बैठ जाता है।

प्रश्न :– ध्रुवतत्त्व तो अभव्यमे भी है, लेकिन उसे पकड़ा नही तो क्या लाभ ?

उत्तर :– अरे भाई ! भवि-अभवि दोनो 'अपन' नही। 'अपन तो ध्रुवतत्त्व है' जिसमे इन दोनोका अभाव है। ४९६.

*

रुचि अपने कार्यमे बाधा नही आने देती है, वह संयोगको और विकल्पोको नही गिनती। [स्वरूपकी] रुचि हो तो हर समय यही का यही [स्वरूपका] चितन चलता रहे। ४९७.

*

दूसरोको लगे कि मै देख रहा हूँ, लेकिन कोई (घरमे) चोरी कर

जाए तो भी मुझे मालूम न पडे । मेरे कपड़े कितने है ? घरमे चीज़-वस्तु है या नही ? — मुझे कुछ मालूम नही रहता । [व्यापारमें लक्ष्य इतना कम हो गया था ।] ४९७-अ [अगास]

..

रुचि हो तो प्रवृत्तिमे भी अपने कार्यमे विघ्न नही आता । दूसरेसे तो कुछ लेना नही है, ओर (स्वयं) सुखका धाम हे । उपयोगरहित चक्षुकी माफिक [बाहरमें] प्रवृत्तिमे दिखाई तो दे, परन्तु उपयोग [सावधानी] तो इधर [अन्तरमें] काम करता रहे । ४९८.

÷

[ज्ञानीको] भक्ति आदिके शुभभाव आवे तब बाहरमे तो उल्लसित दिखाई दे, लेकिन उसी क्षण अभिप्राय निषेध करता हे । ४९९.

:-

प्रश्न :— अशुभमे तो दु:ख लगता हे, लेकिन शुभमे दुःख नही लगता हे ?

उत्तर :— शुभको ठीक माना हे, इसीलिए दुःख नही लगता । पहले अशुभमे ठीक माना था तो वहाँ दु:ख नही लगता था । इधर [आत्मामें] आवे तो इधरके सुखके अनुभवमे शुभ-अशुभ दोनो ही दुःखरूप दिखते है । जेसे मक्खी फिटकरी पर बेठते ही फट-से उड़ जाती हे, किन्तु शक्कर पर बैठी हो तो भले ही पंख टूट जाएँ.. तो भी, उठना नही चाहती । — ऐसे यहाँ भी समझ लेना । [शुभ-अशुभ दोनोंमें भी दु:ख है, फिर भी उनमें दु:ख न लगनेका कारण वहाँ ठीकपना माना है । अतएव स्वयंके अवलोकनसे उक्त प्रकारकी भूल निवृत्त हो तो शुभाशुभभावमे रहा हुआ वास्तविक दु:ख मालूम पड़ेगा । परन्तु इस विषयकी समझको मात्र न्याय-युक्तिकी मर्यादामे रखना योग्य नही है, अवलोकनपद्धतिमे आना ही श्रेयस्कर है ।] ५००.

÷

जिसको अपना सुख चाहिए उसे, अपना सुख जिनको प्रकटा

है, उनके पास [सर्वार्पण बुद्धिपूर्वक शरणमे] **जानेका भाव आता है । ५०१.**

※

शास्त्र इधरसे [आत्मामेसे] **निकलते है तो इधरसे निकली सब बाते शास्त्रसे मिल जाती है । शास्त्र देखकर इधरका मिलान नही करना है, किन्तु इधरसे निकली बात शास्त्रसे मिलान कर लेना ।** [शास्त्र देखकर स्वयकी समझको मिलान करनेकी पद्धति उचित नही है क्योकि इस पद्धतिसे स्वयके अभिप्राय अनुसार शास्त्रवचनका अर्थघटन (समझ) होनेकी सभावना है, और इसमे जो भूल रही हो तो वह शास्त्राधारसे और दृढ हो जाती है, साथ ही ऐसी पद्धतिसे ज्ञानीके वचन भी शास्त्र-आधारसे स्वीकार करनेका अभिप्राय रह जाता है जिससे प्रत्यक्ष सत्पुरुपके वचनपर प्रीति/भक्ति/विश्वास नही रहता । अतएव समझी हुई बातको अनुभवपद्धतिसे समझना चाहिए, और वैसे अनुभवको शास्त्रसे मिलान करना ही सही पद्धति है, अर्थात् उपादानकी मुख्यतावाली पद्धति ही सही पद्धति है ।] **५०२.**

※

निर्विकल्पता पर वज़न नही देना [पर्याय पर वजन नही देना] **– यह मेरेसे** [ध्रुव पदसे] **बड़ी थोड़े-ही है ? ५०३.**

※

सिद्धजीवोसे संसारीजीव अनन्त गुने है । फिर भी, सिद्धजीव संसारीजीवोंको अपनी ओर खीचते है । (लेकिन) संसारीजीव (एक भी) सिद्धजीवको अपनी ओर नही खीच सकते । इससे ही सिद्धजीवोकी विजय सिद्ध हो गई । ५०४.

※

पुरुषार्थके धाममे पुरुषार्थ जम गया, वही पुरुषार्थ है । ५०५.

※

प्रश्न :– आत्मा तो दिखता नही, तो प्रत्यक्ष कैसे होवे ?

उत्तर :– परिणाम तो दिखता है न ! तो परिणाम जिसमेसे आता

है...उस [अनन्त प्रत्यक्ष] चीज़का पहले अनुमान किया जाता है, फिर [वेदनसे] प्रत्यक्ष करना । ५०६.

*

इसकी तो ज़रूरत है न !...उसकी तो ज़रूरत है न ! [–ऐसा भाव अज्ञानीको रहता है ।] अरे भैया ! पहले 'मै अज़रूरियातवाला [निरावलम्बी] हूँ' – यह तो निर्णय करो । ५०७.

*

[व्याप्य-व्यापकताद्वारा] पर्याय तक ही अपना कार्य सीमित है; परपदार्थसे तो कुछ सम्बन्ध है ही नही – ऐसा निश्चय होगया, फिर तो अपनेमे ही शोध चालू होगी । ५०८.

*

महाराजसाहबने दुष्कालमे सुकाल कर दिया है – यह क्या कम महत्त्वकी बात है ? इस कालमे जहाँ ऐसी बात सुननेको नही मिलती, वहाँ [तत्त्वकी] मुसलाधार वर्षा कर दी है । ५०९.

*

प्रश्न :– हमे सम्यग्दर्शन हुआ या नही, यह कैसे मालूम होवे ?

उत्तर :– यह प्रश्न ही बतलाता है कि तुमे सम्यग्दर्शन नही हुआ तभी ऐसी शंका होती है । अन्य माने तो सम्यग्दर्शन है, ऐसा नही है । ५१०.

*

'मै कृतकृत्य चैतन्यधाम हूँ, विकारने मुझे छुआ ही नही, मै ध्रुवधाम हूँ' – ऐसा अपना अहम्‌पना आना चाहिए । ५११.

*

मेरा स्वभाव ज्ञान-दर्शनादिसे लबालब भरा हुआ है, इसमे नया कुछ करना नही है, कुछ बढ़ाना भी नही है । ५१२.

*

पूज्य गुरुदेवश्रीने जो उपदेश द्वारा बतलाया सो ही कार्य मैने किया

है। जगत्मे मुझे मान या यश मिले, वह मुझे पसंद नही है। ५१३. [अगत]

※

परिणामोके चक्रमे माथा (सिर) दिया तो हमेशा माथा फूटता रहेगा । ५१४.

※

[भव-भ्रमणसे] **थक गए हो तो** [स्वरूपमे] **बैठ जाओ; नही थके हो तो चलते रहो ! ५१५.**

※

बन्ध तथा मुक्तिमे भेद नही है। [दोनो एक समयका परिणाम है।] **द्रव्यको मुक्त कहना, कलंक है। तत्त्वरसिकजन, आसन्न भव्य, विज्ञानघनके रसीले पुरुष बन्ध-मोक्षका भेद नही देखते। ५१६.**

※

प्रश्न :– गुरुदेवश्रीकी बात भी अच्छी लगती है और बाहरकी अनुकूलता भी अच्छी लगती है; जब कि गुरुदेवश्री फ़रमाते है कि 'एक म्यानमे दो तलवारे नही रह सकती' ?

उत्तर :– एक शुभ है, एक अशुभ है – दोनो जगहोसे हटकर, तीसरी [शुभाशुभ रहित] **जगह आ जाओ। ५१७.**

※

व्यवहारनयको अभूतार्थ कहा गया है, जिसका सार यह है कि 'परिणाम मात्र अभूतार्थ है।' ५१८.

※

अज्ञानी, उत्पाद-व्ययके साथ चला जाता है । ज्ञानीने नित्यमे [स्वभावमे] **अपना अस्तित्व स्थापित किया है, जिससे वह उत्पाद-व्ययके साथ चला नही जाता,** [उत्पाद-व्ययको] **जान लेता है।** [अज्ञानदशामे उत्पाद-व्ययरूप चलित भावमे अस्तित्व स्थापित रहनेसे स्वयके अनित्यरूपका ही अनुभव वर्तता है। जब कि ज्ञानदशामे नित्यस्वभावमे अस्तित्व स्थापित

होनेसे दोनों अंगोंका एक साथ ज्ञान रहता है।] ५१९.

⁘

[द्रव्यका] शुद्धपर्यायके साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध पूरे द्रव्यके क्षेत्रके हिसाबसे [प्रमाणसे] है। [सामान्य, विशेषरूप नहीं हो जाता है।] ५२०.

⁘

पहले तो धारणा बराबर होनी चाहिए; लेकिन धारणा अन्तरमें उतरे तभी सम्यग्ज्ञान होता है। धारणामें भी लक्ष्य तो इधरका [आत्माका] होना चाहिए। ५२१.

⁘

पर्यायमें तीव्रसे तीव्र अशुभ परिणाम हो या उत्कृष्टसे उत्कृष्ट शुद्ध परिणाम हो 'मेरा' कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं। 'मैं तो वैसा का वैसा ही हूँ'। [पर्यायमें कितना भी फेरफार हो लेकिन द्रव्य तो एकरूप रहता है, इसलिए ध्रुव-नित्य स्वभावके आगे किसी भी प्रकारकी क्षणिक-अनित्य पर्यायका मूल्य नहीं है।] ५२२.

⁘

मैं पहले तो सब जान लूँ...सुन लूँ...पीछे पुरुषार्थ करूँगा; तो पीछेवाला सदा पीछे ही पीछे रहेगा। वर्तमान इसी क्षणसे ही पुरुषार्थ करनेकी यह बात है – पहले अपने आत्माकी प्रभावना करनेकी बात है। ५२३.

⁘

अपने द्रव्यमें दृष्टिका तादात्म्य होते ही ज्ञान प्रमाण हो जाता है। ऐसे प्रमाण हुआ ज्ञान सभी बातें जान लेता है। [अपनी आंशिक शुद्धि, अशुद्धि और इनके निमित्त आदि सभीको प्रमाणज्ञान जान लेता है।] ५२४.

⁘

करोड़ों शास्त्र पढ़ो तो भी [अनुभव-बिना वह] मात्र मनका बोझा है, ऑमला (गुबार/भड़ास) है, भार है। ५२५.

⁘

उल्लासमें उल्लास आ जावे, वह योग्य नहीं। [राग होना वह उतना

अपराध नही है जितना कि रागका राग होना । क्योकि रागका राग अनन्तानुबन्धीका कषाय है ।] ५२६.

*

परिणामकी मर्यादा देखते रहनेसे अपरिणामीका ज़ोर छूट जाता है। [अपरिणामीके जोरमे परिणामका ज्ञान सहज रहता है ।] ५२७.

*

पर्यायमे बैठ करके घूँटन करनेसे तो पर्यायमे ठीकपना रहता है, ऐसे कृत्रिम प्रयासका अभिप्राय छोड़ो ! ५२८.

*

असलमे बात इतनी-सी ही है कि 'इधरमे [अन्तरमे] **जम जाना चाहिए, त्रिकाली अस्तित्वमे प्रसर जाना चाहिए ।'** [अस्तित्वमे प्रसर जाना अर्थात् परिणाम अन्तर्मुख-स्वसन्मुख होकर अपने पूरे क्षेत्रमे व्याप्य-व्यापकभावसे स्वयका स्वभावरूप अनुभव करना ।] ५२९

*

सुनना, पढ़ना, चर्चा करना – यह सभी ऊपर-ऊपरकी बाते है; असलमे तो अन्दरमे जम जाना चाहिए, स्वरूपमे ऊँड़े उतर जाना चाहिए । ५३०.

*

षट् आवश्यक आदि क्या ? – एक ही [निश्चय] **आवश्यक है – यह बात 'आत्मधर्म'मे पढ़कर ऐसी चोट लगी कि बस ! यही बात ठीक है । ५३१.** [अगत]

*

प्रश्न :– शुरुआतवालेको अनुभवका कैसे प्रयत्न करना ?

उत्तर :– 'मै परिणाम मात्र नही हूँ,' 'त्रिकाली ध्रुवपनेमे अपनापन स्थापना' – यही एक उपाय है । ५३२.

*

एक ही 'मास्टर की' (Master key) **है; सब बातोका,**

सब शास्त्रोका एक ही सार है– 'त्रिकालीस्वभावमे अपनापन जोड़ देना है' । ५३३.

✻

विचार आदि तो पर्यायका स्वभाव होनेसे चलता ही रहता है, परन्तु ज़ोर ध्येय स्वभावकी ओर रहता है तो परिणति [अन्तरमे] **ढल जाती है । ५३४.**

✻

इसका [ध्रुव-दृष्टिका] **बल आए बिना,** [जीव] **दूसरी जगह अटकेगा ही । ५३५.**

✻

निश्चयमहाराजजीको नही जाना तो इन महाराजजी [पू गुरुदेवश्री] **को भी विपरीत ही जाना ।** [– यथार्थरूपमे नही जाना ।] [निश्चय आत्मस्वरूपका अज्ञान होनेपर देव-शास्त्र-गुरुका भी यथार्थ स्वरूप जाननेमे नही आता अथवा प्राय विपरीत जानना होता है ।] **५३६.**

✻

परिणाम(-प्रति)के रसको यमका दूत जानो । [किसी भी प्रकारके परिणाम पर रसपूर्वक वजन जाता है तो उसमे बहुत नुकसान होता है अर्थात् स्वभावप्रतिका जोर नही आनेका कारण बनता है । ससारदशामे रागरस ही रहता है, यही अनत ससारका कारण है ।] **५३७.**

✻

विचार करना – निर्विचार होनेके लिए ।
मिलना – फिर नही मिलनेके लिए । ५३८.

✻

सच्चे देव, शास्त्र, गुरु भी 'स्वभाव'के अनायतन है । ५३९.

✻

परिणाम ['मेरा'] **अवलम्बन लेता है, 'मै नही' । ५४०.**

✻

प्रौढ विवेक : 'मै निष्क्रिय चिन्मात्र वस्तु हूँ' । ५४१.

*

कई लोग संसारकी दुकानदारी छोड़, शास्त्रकी दुकानदारीमे फँस गए । ५४२.

*

यहाँ तो अनुभूतिसे ही शुरुआत होती है । अनुभव हुए बिना पर्यायसे भिन्नता होती ही नही [– पर्यायबुद्धि नही छूटती] । ५४३.

*

गुरुदेवश्रीके उपदेशमे इतना खुलासा है कि – उस नीवँसे धर्म पंचमकाल तक टिकेगा – ऐसा दिखता है । ५४४.

*

कार्यसे [पर्यायसे / पर्यायको मुख्य रखकर] कारणको [त्रिकाली द्रव्यको] देखते हो, इससे तो मुझे ऐसी चोट लगती है कि यह क्या ! – ऐसी दृष्टिमे तो त्रिकालीसे जुदापना ही रहता है, तो फिर त्रिकालीमे एकता कैसे होगी ?

वर्तमान पर्यायमे तो 'मै-पना' [पर्यायबुद्धि] स्थापित है और त्रिकाली [स्वरूप]की ओर जाना चाहते हो !! लेकिन पर्यायमे 'मै-पना' छूटे बिना, त्रिकालीमे 'मै-पना' कैसे होगा ? ५४५.

*

प्रश्न :– तिर्यंचको तो अनुभवका सुख ठीक और रागका दुःख वह अठीक, ऐसा रहता है; उसमे 'त्रिकाली ही मै हूँ' ऐसा कैसे भासता होगा ?

उत्तर :– त्रिकालीमे आए बिना ['त्रिकाली ही मै हूँ' ऐसे अनुभव बिना] सुख होता ही नही, तो उसमे त्रिकाली स्वभावका आश्रय आ गया । पर्याय बदलती है तो भी 'मै' नही बदलता – ऐसा भासता है । ५४६.

*

वर्तमान अंशमे ही सब रमत (करतब) है – वह अंतरमे

देखे तो (अनंत) शक्तियॉ दिखेगी; और वहिर्मुख होगा तो संसार दिखेगा । वस ! अंशसे वाहर तो [कोई जीव] जाता ही नही है; इतनी ही मर्यादामे रमत है । ५४७.

✣

देव-शास्त्र-गुरु प्रति जो मचक है [शुभभाव है] वह भी नुकसान ही है; (किन्तु) इसमे जीव लाभ मान वैठता है ; [ऊपरसे] कहता तो है कि निमित्तसे लाभ नही होता, लेकिन अभिप्राय तो लाभका ही वना रखा है; (तभी) तो .हॉसे अपनी ओर आता नही । ५४८.

✣

अज्ञानमे जीव, वांचन-श्रवण-मनन आदिका जो पुरुषार्थ करता है उसमे तो थाक (वोझा) लगता है; लेकिन जिसमे थकान आवे – वह पुरुषार्थ ही कहॉ ? सहज पुरुषार्थमे तो वोझा लगता ही नही । [यहॉ पुरुपार्थका स्वरूप दर्शाया है जो सहज पुरुपार्थ हो तो उसमे कभी थकान नही आती है वल्कि विकल्पकी थकान अवश्य मिट जाती है । जैसे जीवोको श्वासोच्छ्वासमे कभी थकान नही लगती क्योकि वह उनका व्यवहारजीवन (प्राण) है, वैसे ही सहज पुरुपार्थ आत्माका जीवन है अतएव उसमे थकान कैसी ?] ५४९.

✣

जैसे कोई वीररसका, कोई रौद्ररसका,कोई कामरसका निमित्त है, वैसे यह देव-शास्त्र-गुरु शांतरसके निमित्त है; लेकिन अपनेमे शांतरस जगाये नही तो उन पर उपचार भी जाता नही । ५५०.

✣

सुननेमे भी एकान्त उल्लास नही होना चाहिए, दीनता लगनी चाहिए, खेद होना चाहिए । [मुमुक्षुकी भूमिकामे जिसको स्वरूपप्राप्तिकी तीव्र लगन है उसे स्वरूपकी अप्राप्तिमे, सुनने आदिके भावमे असतोष/खेद वर्तता है ।] ५५१.

✣

'दृष्टि' परिणामपर रखी है तो [उसका] **मुख द्रव्यकी ओर बदलना है; यह मुख भी परिणाम ही बदलता है; 'मेरेमे'** [ध्रुव सामान्यमे] **तो मुख भी कहाँ बदलना है ? 'मै तो जहाँ हूँ वहाँ ही हूँ', बदलना-फदलना कुछ 'मेरे' मे नही है ।** ['मै तो ध्रुव हूँ' ऐसे श्रद्धाके परिणमनमे, परिणामका मुख स्वय पलटकर आत्मोन्मुखी हो जाता है ।] **५५२.**

※

प्रश्न :– पर्यायका विवेक तो चाहिए न ?

उत्तर :– जैसे करोड़पति, भिखारीको अधिकता नही देता [भिखारीके सामने दीनता नही करता] **ऐसे पर्यायकी जितनी मर्यादा है उसको ज्ञान जान लेता है । पर्यायको अधिकता देने जाएगा तो प्रयोजन ही अन्यथा हो जाएगा ।** [यही विवेक है ।] **५५३.**

※

बारह अंगका सार, 'निष्क्रिय चैतन्य ही मै हूँ' – ऐसा निर्णय करना है । 'मै' तो निष्क्रिय हूँ; कुछ करना ही नही है; 'मै' कुछ कर सकता ही नही; 'मेरे'मे कुछ करनेकी शक्ति ही नही; 'मै' वर्तमानमे ही परिपूर्ण हूँ, [इसमे] **करना ही क्या है ? – ऐसा यथार्थ निर्णय हुआ तो मुक्ति हो गई । ५५४.**

※

विकल्प सहज होता है; निर्विकल्पता भी सहज होती है; और 'मै' भी सहज हूँ । [– ऐसा 'ज्ञान' ज्ञानदशामे रहता है । परन्तु अज्ञानदशामे विकल्पके कर्तृत्वपूर्वक विकल्प होता है उसमे विकल्पके स्वकाल और सहजताका अस्वीकार हो जाता है।] **५५५.**

※

'आत्मधर्म' मिला, उसमेसे यह पढ़ते ही कि, "एक ही आवश्यक है," चोट लगी ! – अरे यह आठ द्रव्यसे पूजा करना ! छ आवश्यक ! – यह तो सभी बोझा लगता है; और इसमे [एक आवश्यकमे] **तो बोझा घट जाता है । ५५६.**

※

शास्त्रमे ज्ञान करनेका कहा तो कितने ही लोग चितनमे ही रुक गये; और पुरुषार्थ करनेका कहा तो विकल्पमे ही रुक गये । [शास्त्रकी उपदेशात्मक वचनपद्धतिसे चितन और विकल्प करनेकी कृत्रिम कार्यपद्धति बन जाना सभव है अत यहॉ ऐसे विपर्यासके प्रति ध्यान खीचा है कि स्वरूपलक्ष्यसे चितन आदि सहज चले, वही यथार्थ है । अन्यथा कृत्रिमता करनेसे तो कृत्रिमतामे ही रुकना होता है ।] **५५७.**

※

पहले अपनी [निश्चय] **प्रभावना करके...अपना सुख पीनेमे मग्न रहो...बादमे जैसा-जैसा योग होता है वैसा-वैसा विकल्प आता रहता है । ५५८.**

※

'अपने' तो निर्विकल्पता भी करनी नही है; ध्रुवस्थलमे बैठनेसे निर्विकल्पता भी सहज होती है । पहले अभिप्राय ठीक करना चाहिए, फिर परिणाम भी ठीक होने लगते है । ५५९.

※

निष्क्रियभाव कहनेसे जीवको पुरुषार्थ हीनता लगती है । अरे भाई ! वह [स्वभाव] **तो पुरुषार्थकी खान है; और जो मुक्ति होती है उसकी भी उसको दरकार** [अपेक्षा] **नही है ।** [निष्क्रियस्वभावमे आते ही मुक्तिपर्यन्तकी सर्व पर्यायोकी अपेक्षा ही छूट जाती है, कृतकृत्यता अनुभव गोचर होती है – ऐसा भाव स्वय पुरुषार्थ स्वरूप है , अत उसे पुरुषार्थविषयक असमाधान नही रहता ।] **५६०.**

※

प्रश्न :– [यह सब] **स्वभावको मज़बूत करनेकी बात है ?**

उत्तर :– स्वभाव तो मज़बूत ही है, उसमे बैठ जाओ । ५६१.

※

आत्मा तो समुद्र है । जैसे समुद्रमे लहरे उठती है और अपनेमे ही विलीन हो जाती है; समुद्रको लहरोकी क्या दरकार ? वैसे ही इधर

परिणाम उठते है और समा जाते है; मुझ [ध्रुव स्वभाव] **समुद्रको इनकी क्या दरकार ? ५६२.**

*

उपयोग भगवानकी ओर जावे तो भी जो [हम तो] **उसे यमका दूत देखते है; तो (उसे) फिर अन्य कोई कहे कि – 'मेरेसे राग करो' – तो वह कैसे बन सकता है ? ५६३.** [अगत]

*

नित्य वस्तुका ही भरोसा ठीक करने योग्य है। ५६४.

*

अज्ञानीको ऐसा रहता है कि – मै कषायको मंद करते... करते अभाव कर दूँगा; लेकिन ऐसे तो कषायका अभाव होता ही नही। – "स्वभावके बल बिना कषाय नही टलती।" मै कषायको मंद करता जाऊँगा; सहनशक्ति बढ़ाता जाऊँगा तो कषायका अभाव हो जाएगा; और ज्ञानमे जो परलक्ष्यी उघाड़ है वो ही बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान हो जाएगा – ऐसा अज्ञानी मानता है। ५६५.

*

[कितने ही लोग] **समझे बिना, द्रव्यमे पर्याय नही है... नही है – ऐसा ले लेते है। लेकिन 'पर्याय नही है,' ऐसा कौन कहता है !! दृष्टिका विषयभूत – 'अपरिणामी' – पर्यायसे अलग है, उसमे पर्यायका अभाव है, उसमे पर्याय नही है – ऐसा कहते है।** ['द्रव्य' शब्दका प्रयोग दो प्रकारसे होता है (१) प्रमाणके विषयभूत पदार्थको द्रव्य कहते है। (२) निश्चयनयके विषयभूत अपरिणामी द्रव्यस्वभावको भी द्रव्य कहते है। पहलेमे पर्यायका सद्भाव है तथा दूसरेमे असद्भाव है। अतएव जहाँ जो प्रकरण हो वहाँ तदनुरूप अर्थघटन करना चाहिए।] **५६६.**

*

'अपरिणामी' एक समयके परिणाममे आ जावे तो 'अपरिणामी' ख़त्म हो जाए। ५६७.

*

वेदनासमुद्घात : जीवके प्रदेश शरीरसे बाहर निकल जाते है, और शरीरके बाहर वेदन आता है; तो कोई जीव, इस परसे भी शरीरसे [आत्माके] भिन्नपनेके विचारमे उतरकर काम कर सकता है। ५६८.

⁘

'परिणाममेसे अहम्पना हटना और त्रिकाल स्वभावमे अहम्पना करना,' वह शुद्धजीवका [परिणामस्वभाव] स्वरूप है। ५६९.

⁘

स्वाध्याय आदिका विकल्पवाला ज्ञान है सो तो आकुलताके साथ अभेद है; और सहजज्ञान त्रिकालीस्वभावके साथ अभेद है। [जिसमे निराकुलता है।] ५७०.

⁘

'मै त्रिकाली तत्त्व हूँ,' इसमे अहम्पना करना – वही बारह अंग-चौदह पूर्वका सार है; अंगपूर्वमे यही कहना है। ५७१.

⁘

'सिद्ध भगवान खिसकते ही नही' इसका अर्थ ही ऐसा है कि वे परिपूर्ण तृप्त-तृप्त हो गये है, इसीलिए खिसकते ही नही है। [– ऐसा परिणमन होनका ही द्रव्यका स्वभाव है।] ५७२.

⁘

अनुभव होना तो आसान है। लेकिन विशेष उघाड़शक्ति होना और न्याय आदि [विचारना] श्रमवाला है। अपनेको तो गुरुदेवश्रीने ही सब दिया है। ५७३.

※

सम्यग्दृष्टिको एक विकल्प भी फॉसी-सा लगता है – विकसित स्वभावको [विभावमात्र] फॉसी लगती है। ५७४.

※

[जिसकी कर्ताबुद्धि मिट गई है, ऐसे ज्ञानीके अभिप्रायमे] केवलज्ञान भी करना नही है, हो जाता है। तब फिर क्षयोपशम ऐसे करूँ...ऐसे करूँ – वह तो कर्तृत्व ही है। [स्वरूपको भूलने पर ऐसा विपर्यास होता

है ।] ५७५.

※

[अध्यात्मकी] **ऐसी बात सुननेको मिल जानेसे** [कितने ही लोगोको] **संतोष हो जाता है कि दूसरे लोगोको ऐसी बात नही मिली (किन्तु) अपनेको तो मिली है न ! – ऐसे अधिकता मानकर जीव संतुष्ट हो जाता है ।** [नीची दशावालोकी ओर दृष्टि रखना वह तो स्वयके लिए ही एक बडा भारी नुकसानका कारण है ।] **५७६.**

※

तीनो लोकके सर्व पदार्थ ज्ञानमे आ जावे तो भी ज्ञान सभीको पी जाता है; और कहता है कि – अब और कुछ बाकी हो तो आ जाओ ! ५७७.

※

[निज सुखके लिए] **सारे जगत्मे बस...'मै ही एक वस्तु हूँ और कोई वस्तु है ही नही ।' अरे ! दूसरी कोई वस्तु है या नही है, ऐसा विकल्प भी क्यो ? ५७८.**

※

[रागको] **ज्ञानका ज्ञेय...ज्ञानका ज्ञेय कहते है, और लक्ष्य रागकी ओर है तो वह, सच्चा ज्ञानका ज्ञेय है ही नही ।** [यथार्थतामे तो] **ज्ञानका ज्ञेय तो अंदरमे सहजरूप हो जाता है ।**

लक्ष्य बाहर पड़ा हो और 'ज्ञानका ज्ञेय' ऐसा बोले तो मुझे तो खटकता है । वैसे ही 'योग्यता', 'क्रमबद्ध' आदि सभीमे लक्ष्य बाहर पड़ा हो और वैसा कहे तो मुझे खटकता है । ५७९.

※

प्रश्न :– अपरिणामीका अर्थ क्या ? – आत्मा, पर्याय बिनाका सर्वथा कूटस्थ है ?

उत्तर :– अपरिणामी अर्थात् द्रव्यमे पर्याय सर्वथा नही है, ऐसा नही है । लेकिन पलटनशील-परिणमनस्वभावी पर्यायको गौण करके,

'मै वर्तमानमें परिपूर्ण हूँ, अभेद हूँ' – ऐसे ध्रुवद्रव्य और ध्रुवपर्यायको [– जिसको कि, "नियमसार"मे कारणशुद्धपर्याय कहा है, उसको] लक्ष्यगत् करने पर सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है ।

द्रव्य पलटता नही है, पर्याय पलटती रहती है। यदि द्रव्य परिणमनको प्राप्त हो जाए तो पलटते हुए द्रव्यके आश्रयसे स्थिरता हो नही सकती; और स्थिरता बिना सम्यग्दर्शन नही हो सकता। इसलिए जो पलटती ही रहती है उसका लक्ष्य छोड़; और ध्रुव-अपरिणामी चैतन्यतत्त्व जो एक ही सारभूत है, उसका लक्ष्य कर !

पर्याय परिणमती है, उसका परिणमन होने दे ! उसके सन्मुख मत देख ! मगर उसी समय 'तु' परिपूर्ण-अपरिणामी-ध्रुवतत्त्व है, उसको देख !

अहो ! 'मै' वर्तमानमे ही परिपूर्ण-ध्रुव-अपरिणामी तत्त्व हूँ ! – यह बात जगत्के जीवोको नही जॅचती है। और प्रमाणके लोभमे – आत्माको यदि अपरिणामी मानेगे तो प्रमाणज्ञान नही होगा और एकान्त हो जाएगा, ऐसी आड़ लगाकर – पर्यायका लक्ष्य नही छोड़ना चाहते है। इस ही कारणसे वे अपरिणामी चैतन्यतत्त्वको प्राप्त नही होते है। ५८०.

*

प्रश्न :– शास्त्रमे आत्माको भेदाभेद स्वरूप कहा है; और आप तो आत्माको अभेद कहते हो; इसमे आपका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर :– प्रमाणज्ञानकी अपेक्षासे आत्माको भेदाभेदस्वरूप कहनेमें आता है। लेकिन वास्तवमे सम्यग्दर्शनका विषयभूत आत्मा तो अभेद ही है, क्योकि सम्यग्दर्शनका विषय भेद नही है। इसलिए भेदाभेदके लक्ष्यसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नही होती, मात्र अभेदके लक्ष्यसे ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है, यही आशय है। ५८१.

*

पुरुषार्थकी व्याख्या : सहज उद्यम ।

'मै' तो अनादि-अनन्त अपने स्वरूपमे स्थित हूँ, निर्विकल्प हूँ

जो सुखरूप है । कृत्रिम उद्यम तो विकल्पवाला खोटा पुरुषार्थ है, दुःखरूप है । ५८२.

※

परिणाम मात्र व्यवहार है । परिणामकी दृष्टिसे दीनता आती है । पर्यायमे रुकनेसे एकान्त दुःख होता है । परिणाम उत्पाद-व्यय स्वरूप है । 'मै' तो अपरिणामी हूँ, जिसमे उत्पाद-व्यय नही है; निगोदसे लेकर सिद्ध तक वैसा का वैसा ही हूँ । परिणाममे प्रसरनेसे परिणाम जितना हो जाएगा । [क्षणिकपरिणाम जितना ही अपना जीवन (अस्तित्व) ग्रहण करनेसे – ऐसे मिथ्यात्वके फलस्वरूप – निगोदका क्षणिक जीवन प्राप्त होता है ।] ५८३.

※

प्रत्येक परिणाम सत् है; उसमे फेर-फार करनेका विकल्प झूठा है । ध्रुव, सदा ध्रुवरूप ही है – वो उत्पाद-व्ययको क्या करे ? ५८४.

※

'मै' तो विकल्प मात्रसे और परिणाम मात्रसे रहित हूँ । ५८५.

※

'मेरा' अस्तित्व परिणाम तथा विकल्पमे नही है । 'मै' तो वर्तमानमे ही त्रिकाली अपरिणामी हूँ । 'मेरे' मे [विकल्पके] कर्तापनेका स्वभाव हो तो मुक्ति कभी नही हो सकती । ५८६.

※

'मै' नित्य सदृश्य हूँ, जिसमे कुछ करनेका या फेर-फार करनेका नही है । नित्य वस्तुको ध्येय बनानेसे 'मेरे' मे [सासारिक] सुख-दुःख नही है; हर्ष-शोक तो पर्यायदृष्टिमे है । ५८७.

※

पर्याय विनश्वर है; इसमे एकत्व करनेसे 'स्वयं' विनश्वर होता है । श्री योगेन्द्रदेव कहते है कि – "उत्पाद-व्यय, बंध-मोक्ष 'पर्याय' मे है, 'मेरे' मे नही ।" [श्रीमद् राजचद्रजीने भी कहा है कि – दिगम्बर

आचार्योने ऐसा माना है कि 'जीवका मोक्ष नही होता, परन्तु समझमे आता है'। वह इस तरह कि जीव शुद्ध स्वरूपवाला है, उसे बध ही नही हुआ तो फिर मुक्त होना कैसा ? परन्तु उसने यह मान रखा है, 'मै बॅधा हुआ हूँ', यह मान्यता विचार द्वारा समझमे आती है कि मुझे बधन नही है, मात्र मान लिया था। वह मान्यता शुद्ध स्वरूप समझमे आनेसे नही रहती, अर्थात् 'मोक्ष समझमे आ जाता है'। यह वात 'शुद्धनय' अथवा 'निश्चयनय' की है। पर्यायार्थिकनयवाले इस नयको पकडकर आचरण करे तो उन्हे भटक-भटक कर मरना है।] [एकान्त पर्यायार्थिकनयके विषयभूत पर्यायसत्ताका जिसने आश्रय लिया है उसे ऐसी अवस्थामे मात्र कल्पनासे स्वयको 'मुक्त स्वरूप' मान लेनेसे गृहीत मिथ्यात्व अर्थात् तीव्र मिथ्यात्व हो जाता है जो ससार परिभ्रमणका मूल कारण है।] ५८८.

*

दर्पणमे समय-समय पर आकार [प्रतिविव जैसा] **होता रहता है, तो भी दर्पणका दल ज्यो का त्यो रहता है। ऐसे ही, 'स्वभाव' दर्पणके दल जैसा है; वह स्वयंके साथ तादात्म्य है, आकारके साथ नही। त्रिकालीमे वर्तमान परिणमनका अभाव है। ५८९.**

*

(जीव) मुक्तिको चाहता है, लेकिन उसके अभिप्रायमे कर्तापना पड़ा हो तो मुक्ति कैसे हो ? 'मै पूर्ण हूँ' ऐसा निश्चय होनेपर, कर्तापना नही रहता। ५९०.

*

'स्वभाव' सावधान स्वरूप है। पर्यायमे सावधानी होनेपर स्वभाव पकड़नेमे नही आता। ५९१.

*

[मूलत] **'वर्तमानमे ही पूर्ण हूँ',** [पर्यायमे भी] **प्रयोजन सुखका है, ज्ञानका नही। ५९२.**

*

'सारा जगत् ज्ञानका ज्ञेय है', 'अनुकूलता-प्रतिकूलता कुछ नही है' — इस अभिप्रायमे दृष्टि अभेद होनी चाहिए । दृष्टिमे मचक नही आनी चाहिए । अभिप्रायमे परसे लाभ-नुकसानकी मान्यता क्यो ? अभिप्रायमे इच्छा व दीनता नही होनी चाहिए । [अभिप्राय और दृष्टि साथ वर्तते है और तदनुसार ही परिणमनका सचरण/विकास होता है, ऐसा सिद्धात है ।] **५९३.**

※

'मै त्रिकाली अपरिणामी हूँ', परिणाम मात्र गौण है, वर्तमानमे ही ऐसा निश्चय होना चाहिए । ध्रुवस्वभाव सदा प्रसिद्ध है; उत्पाद-व्ययके कालमे जुदा प्रकट है । [स्वभावकी] **दृष्टि प्रतिसमय पर्यायको गौण करती है । ५९४.**

※

प्रश्न :- जीवका कर्तव्य क्या ?

उत्तर :- कर्तव्य पर्यायमे है । परमार्थसे कोई कर्तव्य नही । प्रमाणज्ञानका प्रयोजन तो 'निश्चय' को प्रकाशित करना है । [जीवको कर्तव्यकी मुख्यताके नामपर भी कर्ताबुद्धि दृढ हो जाने की सभावना रहती है । वस्तुत सभी प्रकारके दोषोसे छूटने/बचने तथा सर्व श्रेयका मूल निश्चयपरमार्थस्वरूपका 'ज्ञान' है अत मूल प्रयोजनभूत विषय 'मूलस्वरूप' ही है, जिसके श्रद्धान-ज्ञानसे पर्यायविषयक उत्तर प्रयोजनकी सिद्धि स्वय हो जाती है ।] **५९५.**

※

'मै' तो प्रतिमासमान अपरिणामी हूँ । 'मेरे' मे पालथी मारकर बैठ जाता हूँ । दर्पणके दलकी तरह निष्क्रिय हूँ । परिणाम जो होने लायक है सो होता है । 'मै' तो पर्यायनिरपेक्ष द्रव्य हूँ — वही निष्क्रियता है । ५९६.

※

पर्यायको उसके स्वकालमे रहने दो, वह उस कालका सत् है; उसमे

उपयोग मत रोकना । ५९७.

✣

द्रव्य, पर्यायका आलिगन नही करता । पर्याय, द्रव्यका आलिगन नही करती; कथंचित् व्यवहारसे आलिगन करती है । ५९८.

✣

हर समय द्रव्यस्वभावकी अधिकता रहनी चाहिए । जैसे तिनकेकी आड़मे डूँगर (पर्वत) नही दिखता है, वैसे ही दृष्टि परिणाम पर रुकनेसे परिणामी ढॅक जाता है । ५९९.

✣

[सक्षेपमे अध्यात्मदृष्टिसे] चार अनुयोग :—

करणानुयोग : विकार और विकारके फल ।

द्रव्यानुयोग : स्वभाव और स्वभावका फल ।

चरणानुयोग : चारित्रकी स्थिरता ।

कथानुयोग : उक्त सभीकी कथा । ६००.

✣

'मै निष्क्रिय त्रिकाली हूँ' – इस चश्मेको लगाकर देखनेसे सभी गुण अपना कार्य करते है, इसमे सहज ज्ञान और पुरुषार्थ आ जाता है ।

[सहज स्वरूपमे] साधक-बाधक कोई नही है, यह चश्मा लगानेसे अर्थात् ध्रुवकी मुख्यतामे सव यथार्थ दिखता है । साधक-बाधकभाव पर्यायमे है, 'मै तो ध्रुव हूँ' । ६०१.

✣

निश्चयाभास होनेका भय और प्रमाणज्ञानका लोभ रहनेसे सत्यमार्ग दिखाई नही देता । ६०२.

✣

क्षणिकभाव व्यक्त है उसको गौण करना; और त्रिकालीभाव अव्यक्त है उसको मुख्य करना । ६०३.

※

यथार्थ निश्चयमे सुख प्रकट होता है । ६०४.

※

जैसे एक द्रव्य अन्य द्रव्यका कुछ नही करता है, वैसे एक सत् अन्य सत्का कुछ नही करता । त्रिकालीसत् क्षणिकसत्को नही करता । क्षणिकसत् त्रिकालीसत्का कुछ नही करता । ६०५.

※

त्रिकालीमे विकार-अविकार कुछ नही है । [वह तो जैसा है वैसा है ।] ६०६

※

प्रमाणसे द्रव्य पर्यायका कर्ता है । निश्चयसे [त्रिकाली] द्रव्य पर्यायका कर्ता नही है । ६०७.

※

'वर्तमानमे ही अक्रिय-अपरिणामी हूँ,' अर्थात् कोई क्रिया करनेका अभिप्राय नही है । कुछ करूँ.. करूँ मे, स्वयं परिणमन करते परिणामको करनेका ही अभिप्राय रहता है [जो मिथ्या है] । ६०८.

※

निरावलम्बी तत्त्वमे बैठ जाना है । वर्तमानमे ही परिपूर्ण हूँ तो फिर करना क्या ? ज्ञान करना ! – वो तो सहज ही है; उसका भी बोझा उठानेकी ज़रूरत नही है । ६०९.

※

विकल्प, स्वका या परका– उनकी जात एक ही है – क्षणिक है । 'मै' त्रिकाली निर्विकल्प हूँ, 'मेरे' मे विकल्पकी नास्ति है । ६१०.

※

ज्ञान बढ़ानेकी व कषाय घटानेकी ज़रूरत नही है, यो तो केवलज्ञान प्रकट करनेकी भी ज़रूरत नही है । 'परिणाम पर न खैचावो' सहज स्वभाव रह जाएगा । ६११.

※

'मै' स्थिर हूँ' — ऐसा निर्णय करने पर स्थिरता आती है, टिकती है, बढ़ती है, और सुख होता है। 'मै' अस्थिर हूँ'—ऐसे भावमे सुख नही मिलता, दुःख होता है। ६१२.

❖

[ज्ञानीके] अभिप्रायमे, परिणाम-गति आदि गौण हो जाती है। उनकी मरणके समय क्षेत्रांतर पर नही लेकिन परिपूर्ण [स्व] पर दृष्टि रहती है। ६१३.

❖

'प्रति समयका परिणमन' [–व्यवहार] उस कालमे मात्र जाना हुआ ही प्रयोजनवान है — बस ! इतनी ही मर्यादा है। ६१४.

❖

वस्तुस्वरूप तो सहजका धंधा है, वाद-विवाद करे सो अंधा है। [वादविवाद करनेवाला अज्ञानी सहजस्वरूपको नही देखता और न ही वह परिणामकी सहजताको समझता है। असलमे दूसरोकी श्रद्धा/अभिप्राय बदलनेके आग्रहमे विवाद उत्पन्न होते है। और साथ ही विवाद करनेवालेको स्वयके क्षयोपशमका अहभाव तीव्र हो जाता है।] ६१५.

❖

जो क्षणिकसत्को नही स्वीकारता, वह त्रिकालीसत्को कैसे स्वीकारेगा ? ६१६.

❖

एक ओर त्रिकालीका पलड़ा और दूसरी ओर क्षणिकका पलड़ा; –जैसे एक ओर माल, दूसरी ओर बारदान; महत्ता मालकी है, बारदानकी नही। ६१७.

❖

गतिमे, व्यवहारसे क्षेत्रांतर होता है; निश्चयसे अपना क्षेत्र कभी नही छूटता। ६१८.

❖

ज्ञानकी पर्याय ज्ञेयके साथ सम्बन्ध रखती है। ज्ञायकका सम्बन्ध

किसीके साथ नही। ['मै असग तत्त्व हूँ'।] ६१९.

*

प्रश्न :– इस कालमे सत्‌समागम लाभकारी है ?

उत्तर :– निश्चयस्वरूप अपनी आत्माका समागम करना, वही सत्‌समागम है और यही लाभकारी है। व्यवहारसे देव-शास्त्र-गुरु तथा धर्मात्माका संग सत्‌समागम है। ६२०.

*

'मै' ध्येय स्वरूप हूँ। परिणाम 'मेरा' ध्यान करता है। ६२१.

*

जिसमे थकावट आये, उसे हेय जाने। शुभाशुभमे थकावट आती है; शुद्धभावमे थकावट नही आती।

पर्यायको पर्यायके स्थानमें रहने दो! ६२२.

*

पोपट भूँगलीको पकड़ने पर औधा हो जाता है, गिर जानेके भयसे (वह) भूँगलीको छोड़ता नही है; यदि वह भूँगलीको छोड़ दे तो उड़ जाए, क्योकि उड़ना तो उसका सहज स्वभाव है। [परन्तु अज्ञानवश] वह अपनी स्वाभाविकशक्तिको भूला हुआ है। वैसे ही अज्ञानी अपनी शक्तिको भूल कर परिणामको पकड़े हुए है। [अज्ञानवश स्वशक्तिको भूल जानेसे राग और रागके विषयभूत पदार्थोके अवलम्बन/आधारसे अपना जीवन टिकता है, ऐसा परिणमन चलता है। जब कि स्वशक्तिके भानमे ऐसी दीनता सहज ही छूट जाती है, इसीलिए ज्ञानदशामे किसी भी पदार्थका त्याग सहज हो सकता है, जिसमे न आकुलता हाती है और न ही भय रहता है।] ६२३.

*

सम्यग्दृष्टिकी रागके प्रति पीठ है, (लेकिन) मुख नही।

'मै' तो सदा अंतर्मुख हूँ, 'मेरा' विकल्पके साथ भी सम्बन्ध नही है तो दूसरोकी तो क्या बात ? आत्मा ही निज वैभव है। ६२४.

*

'मै परिणामसे शून्य हूँ'– ऐसा [रुचिपूर्वक] ज़ोर आना चाहिए । ६२५.

⁘

द्रव्यलिंगीको मंद कषायकी मुख्यता है और द्रव्यकी गौणता है । [व्यवहाराभासमे सर्वत्र ऐसा होता है ।] ६२६.

⁘

'मेरी' भूमि वर्तमानमे इतनी निष्कम्प और नक्कर (ठोस) है कि जिससे 'मै' वर्तमानमे ही निर्भय हूँ, निरावलम्बी हूँ, परिपूर्ण हूँ, निष्क्रिय हूँ, सुखस्वरूप हूँ, कृतकृत्य हूँ, त्रिकाल एकरूप हूँ, अचल हूँ । ६२७.

⁘

[स्वयकी प्रसिद्धिके बारेमे पूछा गया तब कहा कि] कोई जाने न जाने, इसमे आत्माको कोई फायदा नही है । अनंत सिद्ध हो गए है, (लेकिन) आजकल कोई उनके नाम तक भी नहीं जानता है । असंख्य सम्यग्दृष्टि [तिर्यच] अभी ढ़ाई द्वीपके बाहर मौजूद है, उन्हे कौन जानता है ?

आप किसीके लिए बोझा न उठावे । मै अपनी बात अपने मुखसे नही कह पाऊँगा, और कोई बात बना करके [कि, ऐसा कहना है] (वहाँ) जाना, ऐसा मुझसे नही हो सकता । [धर्मात्माके समागममे पूर्वयोजित बात कहनेसे कृत्रिमता और असरलताका अपराध उत्पन्न होता है, जो कि मुमुक्षुओको करने योग्य नही है ।] ६२८. [अगत]

⁘

एक पलड़ेमे आत्मा, और दूसरे पलड़ेमे तीन काल-तीन लोक; फिर भी आत्मावाला पलड़ा (भारसे) बैठ जाता है, और दूसरा पलड़ा उलर जाता है । ६२९.

⁘

द्रव्यलिंगी मुनिने वीर्य बहुत उलटा लगाया है । वह जितनी ज़ोरसे उलटा पड़ा है, उससे अधिक वीर्य सम्यक् होनेमे लगाना पड़ेगा, तभी

सम्यक् होगा । ६३०.

※

पू. गुरुदेवश्रीके एक घंटेके प्रवचनमे पूरी की पूरी बात आ जाती है । ६३१.

※

[धार्मिक पर्वके दिनोमे श्री मदिरजीमे पू बहेनश्री-बहनकी भक्ति देखकर बोले] – **ऐसी भक्ति मेरेमे नही है, इस बातमे तो मै अपनी क्षति देखता हूँ । ६३२.** [अगत]

※

[श्रीमद् राजचद्रजीका पत्राक ४०८ पढकर प्रमोदसे निकले उद्गार -] **अहो ! क्या चीज़** [तत्त्व] **रख दी है इसमे !! ६३३.**

※

[लगाव-प्रधान होकर चेष्टा करना] – **ऐसी मेरी प्रकृति नही है, फिर भी कोई योग्यता पड़ी होगी जो अपने स्वकालमे बाहर आ गई ।** [ऐसी योग्यतावश भाईश्री राजकोटके हवाई अड्डेपर श्री लालचदभाईसे गले लगाकर मिले थे ।] [द्रव्यमे पर्यायपरिणमनशक्तिरूप योग्यता होती है जो अपने स्वकालमे प्रकट होती है । उक्त वचनमे ऐसा द्रव्यानुयोगका सिद्धात स्पष्ट होता है ।] **६३४.** [अगत]

※

प्रश्न :- सम्यग्दर्शनके पहले आपकी कैसी दशा थी ?

उत्तर :- निर्विकल्पताके पहले विकल्पका इतना दुःख मालूम हुआ था – ऐसी दशा हुई थी – कि या तो देह छूट जायेगी या विकल्प फट जायेगा । तीसरी बात होनेवाली नही थी । [निर्विकल्पदशाकी पूर्वभूमिकामे स्वरूप सम्बन्धित सूक्ष्म विकल्पमे भी इतना तीव्र दु ख महसूस हुए बिना, विकल्प सहज छूट कर, निर्विकल्पदशा उत्पन्न नही होती ।] **६३५.** [अगत]

※

निश्चयग्रंथ आत्मा है, निश्चयगुरु आत्मा है और निश्चयदेव भी आत्मा

है। मूल बात इधर [अन्दर] से है; बादमे बाहरके निमित्तो पर उपचार किया जाता है। ६३६.

÷

'मै तो अभी ही सिद्ध हूँ', चौदहवाँ गुणस्थान होगा और बादमे सिद्धालयमे जाना होगा, क्षेत्रांतर वगैरेह होगा; लेकिन यह सब कार्य पर्यायमे होगा। पर्यायका कार्य पर्यायमे होता है, 'मेरे' मे नही। 'मै' तो अभी ही सिद्धालयमे बैठा हूँ। कभी कही आया भी नही, गया भी नही। ६३७.

÷

प्रश्न :– पुरुषार्थ कैसे करना ?

उत्तर :– 'मै वर्तमानमे ही अनंतवीर्यका पिड हूँ' – यही पुरुषार्थ है।

प्रश्न :– दृष्टि तो फेरना है न ?

उत्तर :– 'मै ख़ुद ही दृष्टा हूँ' – इस भावमे दृष्टि नही फेरना है [वह तो स्वय फिर जाती है]; वर्तमानमे ही कृतकृत्य हूँ, इसमे कुछ करना नही है। ६३८.

÷

प्रश्न :– परिणति अंतरमे अभेद रहती है, इसलिए आप साधक है ?

उत्तर :– पर्यायकी अपेक्षासे मुझे साधक कहो तो कहो। वैसे 'मै' तो न साधक हूँ, न बाधक हूँ। ['मै' तो जो हूँ सो हूँ।] ६३९.

÷

यह (भव) तो मुसाफ़िरी है। अब तो आख़िरी मुसाफ़िरी है। ६४०.

÷

गुरुदेवश्रीके लिए मेरे हृदयमे क्या [महिमा] है ? –सो चीर कर कैसे बतलाऊँ ? ... बस ! यह तो मेरा ज्ञान ही जानता है। ६४१.

÷